डेविड ह्यूम का दर्शन

लेखक
वेदप्रकाश वर्मा

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक मे डेविड ह्यूम के दर्शन के प्रमुख पक्षो का विवेचन किया गया है। उनके व्यापक दर्शन के समुचित अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से पुस्तक को पाच भागो मे विभाजित किया गया है। 'सामान्य परिचय' के अन्तर्गत ह्यूम के जीवन तथा उनकी कृतियो का सक्षिप्त उल्लेख करने के पश्चात् प्रथम भाग मे उन की ज्ञानमीमासा सम्बन्धी मुख्य समस्याओ पर कुछ विस्तार से विचार किया गया है। दूसरे भाग मे कुछ प्रमुख मनोवेगो के स्वरूप और मानव-जीवन के लिये उनके महत्त्व के सम्बन्ध मे ह्यूम के विचार सक्षेप मे प्रस्तुत किये गये है। तीसरे, चौथे और पाचवे भाग मे क्रमश उनके नैतिक दर्शन, धर्मदर्शन तथा राजनीति-दर्शन के कुछ प्रमुख सिद्धान्तो का विवेचन किया गया है। 'परिशिष्ट' के अन्तर्गत पाश्चात्य दर्शन के इतिहास मे ह्यूम के महत्त्व और प्रभाव का सक्षिप्त उल्लेख किया गया है। अन्त मे सहायक पुस्तको तथा पारिभाषिक हिन्दी शब्दो के अग्रेजी पर्यायो की सूची भी दे दी गयी है। आशा है इसमे पाठको को ह्यूम के दर्शन के अध्ययन मे सुविधा होगी।

जहा तक मुझे ज्ञात है, अभी तक हिन्दी मे ह्यूम के दर्शन पर कोई ऐसी पुस्तक उपलब्ध नही है जिसमे उन के दर्शन के प्रमुख पक्षो का विवेचन किया गया हो। प्रस्तुत पुस्तक इसी अभाव की पूर्ति के लिए किया गया एक लघु प्रयास है। यदि यह पुस्तक ह्यूम के दर्शन के प्रति पाठको की रुचि उत्पन्न करके इस महान् विचारक के दर्शन का अधिक गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने के लिए उन्हे प्रेरित कर सके तो मैं अपने इस प्रयास को सार्थक समझूंगा।

दिल्ली विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के अध्यक्ष प्रोफेसर रामचन्द्र पाडेय के प्रति मैं हृदय से आभारी हू जिन्होने मुझे प्रस्तुत पुस्तक लिखने के लिए प्रेरित किया। इस पुस्तक के सामान्य परिचय तथा प्रथम भाग के सम्बन्ध मे बहुत से उपयोगी सुझाव देने के लिए मैं रामजस कालेज, दिल्ली के दर्शन विभाग के अध्यक्ष श्री बी० एन० कौल के प्रति भी अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हू। प्रस्तुत पुस्तक को लिखने के लिए मैंने अनेक विचारको की पुस्तको से सहायता ली है। इन पुस्तको तथा इनके लेखको के नाम मैंने यथास्थान पादटिप्पणियो मे दे दिये हैं। मैं इन सभी लेखको का बहुत आभारी हू। अन्त मे मैं अपनी पत्नी श्रीमती कृष्णा कुमारी वर्मा के प्रति भी अपनी हार्दिक कृतज्ञता अभिव्यक्त करता हू जिनके निरन्तर सक्रिय सहयोग के बिना मेरे लिए यह पुस्तक लिखना बहुत कठिन होता।

वेदप्रकाश वर्मा

विषय-सूची

□□□

सामान्य परिचय : जीवन और कृतियाँ

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास मे अंग्रेज दार्शनिक डेविड ह्यूम का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। सत्रहवी शताब्दी मे जॉन लॉक ने जिस अनुभववादी दर्शन का प्रतिपादन किया था उसे ह्यूम ने ही चरमोत्कर्ष पर पहुँचाया और यह सिद्ध किया कि तर्क एव अनुभव के आधार पर द्रव्य, आत्मा तथा ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नही किया जा सकता। लॉक तथा वर्कले द्वारा स्थापित अनुभववादी परम्परा को स्वीकार करते हुए ह्यूम ने यह प्रमाणित किया कि इस परम्परा का अतिम परिणाम सशयवाद अथवा अज्ञेयवाद ही हो सकता है, क्योकि मनुष्य की बुद्धि और उसका अनुभव दोनो ही इतने सीमित है कि इनके आधार पर वह परम सत्ता का ज्ञान कभी प्राप्त नही कर सकता। वह जीवन और जगत् सम्बन्धी उन्ही तथ्यो को निश्चयपूर्वक जान सकता है जो उसके सीमित अनुभव के अतर्गत आते है, इन तथ्यो से परे क्या है, इस सम्बन्ध मे वह निश्चित रूप से कुछ भी नही कह सकता। ह्यूम की इसी आधारभूत मान्यता के कारण उन्हे सशयवादी दार्शनिक कहा जाता है। हम यहाँ मानव-ज्ञान, नैतिकता, धर्म तथा राजनीति के सम्बध मे उनके विचारो का सक्षेप मे मूल्याकन करने का प्रयास करेंगे। परन्तु ह्यूम के दर्शन के इन सभी पक्षो पर विचार करने से पूर्व उनके जीवन तथा उनकी प्रमुख कृतियो के सम्बन्ध मे कुछ बता देना वाछनीय होगा।

डेविड ह्यूम का जन्म 26 अप्रैल 1711 के दिन स्कॉटलेंड के मुख्य नगर ऐडिनबर्ग मे हुआ था। उनके माता-पिता दोनो ही सम्पन्न स्काटिश परिवारो के व्यक्ति थे और बरविकशायर मे उनकी अपनी जमीन थी जिसे 'नाइनवेल्ज' कहा जाता था। ह्यूम अपने माता-पिता की तीन सतानो मे सबसे छोटे थे—उनके एक बडा भाई और एक बडी बहन थी। जब ह्यूम केवल दो ही वर्ष के थे तभी उनके पिता जोजेफ ह्यूम का देहान्त हो गया और तीनो बच्चो के पालन-पोषण का उत्तरदायित्व उनकी माता पर आ पडा। इस गुरु उत्तरदायित्व को उनकी माता ने बडी निष्ठा और समर्पण की भावना के साथ पूरा किया। 1723 मे डेविड अपने बडे भाई जॉन के साथ ही ऐडिनबर्ग विश्वविद्यालय मे प्रविष्ट हुए और 1725 अथवा 1726 मे बिना कोई उपाधि प्राप्त किये ही उन्होने यह विश्वविद्यालय छोड दिया। इसके पश्चात् कुछ वर्षो तक उन्होने अपने घर मे रह कर ही अध्ययन किया। इस स्वाध्याय के फल-स्वरूप साहित्य तथा दर्शन मे उनकी विशेष रुचि उत्पन्न हुई और अधिकाधिक ज्ञानार्जन करना उनके जीवन का मुख्य ध्येय बन गया। ह्यूम का परिवार उन्हे वकील बनाना चाहता था, किंतु इस व्यवसाय को पसन्द न करने के कारण उन्होने वकालत का अध्ययन नही किया और अपना सारा समय साहित्य तथा दर्शन के अध्ययन मे ही लगाने लगे। 1734 मे उन्होने ब्रिस्टल के एक व्यापार-केन्द्र मे नौकरी आरम्भ की, किन्तु व्यापार मे रुचि न होने के कारण उन्होने शीघ्र ही यह नौकरी छोड दी।

इसी वर्ष वे अध्ययन के लिए फ्रान्स चले गये और लगभग तीन वर्ष तक वही रहे। यहाँ ह्यूम का सम्पर्क 'ला फ्लेश' के प्रसिद्ध 'जेस्विट कॉलेज' मे भर्ती हुए, डेकार्ट ने भी शिक्षा प्राप्त की थी। तीन वर्षों मे से अधिकाश समय तक वे 'ला फ्लेश' मे ही रहे और यही उन्होने अपनी प्रथम महान् कृति 'ए ट्रिटाइज आफ ह्यूमन नेचर' लिखना आरम्भ किया। अपनी इस पुस्तक को प्रकाशित कराने के लिए ह्यूम 1737 मे इगलैंड लौट आये। 1745 मे उन्होने एक सामत के पुत्र का शिक्षक होना स्वीकार किया, किन्तु वे यह नौकरी भी अधिक समय तक नही कर पाये, क्योकि वह बालक मानसिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ था। 1746 में ह्यूम ने जनरल सेंट क्लेयर के सचिव का पद ग्रहण किया और अगले वर्ष उनके साथ सैनिक कार्य के लिए वियाना तथा तुरिन गए। 1749 मे वे अपने घर 'नाइनवेल्स' वापस आ गये। इसी वर्ष उनकी माता का देहावसान हुआ जो उनके जीवन की एक बडी दुखद घटना थी। 1751 मे वे ऐडिनबर्ग आ गये और अगले वर्ष ही उन्हे ऐडिनबर्ग विश्वविद्यालय के पुस्तकालय का अध्यक्ष नियुक्त कर दिया गया। इस पद पर कार्य करते हुए उन्हे अध्ययन का पर्याप्त अवसर मिला और तभी उन्होने अपनी एक अन्य महान् पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ इगलैंड' लिखना प्रारम्भ किया। 1761 तक ह्यूम की अधिकतर महत्वपूर्ण कृतिया प्रकाशित हो चुकी थी और साहित्य तथा दर्शन के क्षेत्र मे उन्हे पर्याप्त ख्याति प्राप्त हो गई थी। 1963 मे वे पुन फ्रास चले गये और पेरिस के एक दूतावास मे उन्हे सचिव नियुक्त कर दिया गया। इस पद के कारण उन्हे पेरिस के सभ्य समाज मे बहुत प्रतिष्ठा और ख्याति प्राप्त हुई। यही महान् विचारक रूसो के साथ उनका सम्पर्क हुआ। लगभग तीन वर्ष तक सचिव के पद पर कार्य करने के पश्चात् 1766 में ह्यूम इगलैंड लौट आये और रूसो को भी अपने साथ ले आये। रूसो के साथ कुछ मतभेद होते हुए भी ह्यूम ने उनकी सभी प्रकार से यथासम्भव सहायता की। 1767 मे उन्हे ब्रिटिश सरकार के एक विभाग मे सचिव नियुक्त किया गया और वे लन्दन मे रहने लगे। 1769 मे उन्होने इस पद से त्यागपत्र दे दिया और अपने जन्म-स्थान ऐडिनबर्ग लौट गये। यही उन्होने अपने जीवन के अतिम वर्ष व्यतीत किये। 1775 मे उनका स्वास्थ्य काफी खराब हो गया था और 25 अगस्त 1776 को ऐडिनबर्ग मे ही उनका देहान्त हो गया।

जैसा कि हम पहले ही बता चुके है, ह्यूम की प्रथम पुस्तक 'ए ट्रिटाइज ऑफ ह्यूमन नेचर' थी। इस पुस्तक के प्रथम दो भाग जनवरी 1739 मे प्रकाशित हुए और इसका तीसरा भाग 1740 मे प्रकाशित हुआ। ह्यूम ने इस पुस्तक के प्रथम भाग मे मानव-बुद्धि से सम्बन्धित विषयो का, द्वितीय भाग मे मानवीय भावनाओ तथा सवेगो का और तृतीय भाग मे नैतिकता सम्बन्धी मूल सिद्धान्तो का विस्तृत विवेचन किया है। इस पुस्तक के प्रकाशन के पश्चात् तत्कालीन दार्शनिको ने इसकी उपेक्षा की जिसके फलस्वरूप ह्यूम को अत्यधिक निराशा हुई। इस निराशा को व्यक्त करते हुए अपनी पुस्तक 'माई ओन लाइफ' मे उन्होने लिखा है कि '[illegible]ई भी साहित्यिक

कृति इतनी दुर्भाग्यपूर्ण सिद्ध नही हुई जितनी मेरी 'ट्रिटाइज ऑफ ह्यूमन नेचर'। नवजात मृत शिशु की भाति यह साहित्यिक जगत् मे नितान्त प्रभावहीन रही।" परन्तु कालातर में बहुत से विचारको ने ह्यूम की इसी पुस्तक को महान् दार्शनिक कृति के रूप मे स्वीकार किया। 1740 मे 'ऐब्स्ट्रैक्ट' शीर्षक से इसी पुस्तक का साराश प्रकाशित हुआ जिसमे ह्यूम ने अपने दर्शन के मुख्य सिद्धान्त बहुत सक्षेप में प्रस्तुत किये। 1742 मे ह्यूम की दूसरी पुस्तक 'एसेज मारल ऐंड पोलिटिकल' प्रकाशित हुई जिसका तत्कालीन दार्शनिको ने पर्याप्त स्वागत किया। उनकी तीसरी पुस्तक 'फिलासाफिकल एसेज कन्सरनिंग ह्यूमन अडरस्टेंडिंग' 1748 में प्रकाशित हुई जिसे उन्होने 1758 मे 'इन्क्वायरी कन्सरनिग ह्यूमन अडरस्टेडिंग' यह नया नाम दिया। कुछ विचारक इस पुस्तक को 'ट्रिटाइज' के प्रथम भाग का परिष्कृत रूप मानते है, किन्तु इसमे द्रव्य, देश, काल, वैयक्तिक अनन्यता आदि ऐसे अनेक विषयो का या तो विवेचन नही किया गया अथवा बहुत सक्षिप्त विवेचन किया गया है जिस पर ह्यूम ने 'ट्रिटाइज' मे विस्तारपूर्वक विचार किया है। हा, इसमे 'चमत्कार' तथा 'मृत्यु के पश्चात् जीवन की स्थिति' इन दो विपयो का ह्यूम ने विस्तृत विवेचन किया है जबकि 'ट्रिटाइज' मे उन्होने इन विपयो के सम्बध मे कुछ नही कहा है। इस प्रकार 'इन्क्वायरी' की विपयवस्तु 'ट्रिटाइज' की विपयवस्तु से कुछ सीमा तक भिन्न है। 1751 अथवा 1752 मे ह्यूम की चौथी पुस्तक 'ऐन्क्वायरो कन्सरनिंग दि प्रिंसिपल्ज आफ मारल्ज' प्रकाशित हुई। इस पुस्तक को निर्विवाद रूप से 'ट्रिटाइज' के तीसरे भाग का सशोधित एव परिष्कृत रूप माना जाता है। स्वय ह्यूम इसे अपनी सर्वोत्तम रचना मानते थे। उनकी पाचवी पुस्तक 'पोलिटिकल डिसकोर्सेज' 1752 मे प्रकाशित हुई। यह पुस्तक उनकी पूर्व-लिखित पुस्तक 'एसेज मारल ऐड पोलिटिकल' की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट मानी जाती है। जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, इसमे ह्यूम ने राजनीति सम्बधी दार्शनिक सिद्धान्तो का विवेचन किया है। इसके प्रकाशित होते ही बहुत से विचारको ने इसकी सराहना की थी। यह भी कहा जाता है कि अमेरिका के सविधान-निर्माताओ पर इस पुस्तक का बहुत प्रभाव पडा। 1757 मे ह्यूम ने अपनी छठी पुस्तक 'फोर डिसर्टेशन्ज' प्रकाशित की जिसमे 'दि नेचुरल हिस्ट्री आफ रिलीजन', 'आफ दि पैशन्ज', 'आफ ट्रैजेडी' तथा 'आफ दि स्टैन्डर्ड आफ टेस्ट' ये चार विस्तृत निबध सम्मिलित है। इनमे से प्रथम निबध मे ह्यूम ने धर्म के उद्गम और विकास पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। दूसरे निबध मे मानवीय सवेगो का विवेचन किया गया है जो 'ट्रिटाइज' के दूसरे भाग से अधिक भिन्न नही है। अतिम दो निबन्धो मे सौन्दर्यशास्त्र सम्बधी कुछ प्रमुख समस्याओ पर विचार किया गया है। 1754 और 1762 के बीच मे ह्यूम ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिस्ट्री आफ इगलैड' के चार भाग प्रकाशित कराये। यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से अब इस पुस्तक का अधिक महत्व नही रहा, फिर भी लगभग एक शताब्दी तक यह बहुत लोकप्रिय रही। इसी कारण इसे ह्यूम की महत्वपूर्ण रचना माना जाता है। ह्यूम की

मृत्यु के तीन वर्ष पश्चात् 1779 मे उनकी अतिम पुस्तक 'डाएलाग्ज कन्सरनिंग नेचरल रिलीजन' प्रकाशित हुई। इस पुस्तक मे उन्होने ईश्वर के स्वरूप और उसके अस्तित्व सम्बधी प्रमाणो का विवेचन किया है। ह्यूम ने इस पुस्तक को 1751 मे लिखना आरम्भ कर दिया था और सम्भवत 1757 तक वे इसे समाप्त कर चुके थे। परन्तु धर्म के सम्बन्ध मे तत्कालीन कट्टर रूढिवादी व्यवस्था के कारण वे इसे अपने जीवन-काल मे प्रकाशित नही कराना चाहते थे। यही कारण है कि उन्होंने अपनी मृत्यु के बाद ही इस पुस्तक को प्रकाशित कराने के लिए अपने कुछ मित्रो से अनुरोध किया था। कहा जाता है कि वे अपने जीवन के अतिम वर्ष तक इस पुस्तक मे आवश्यक सुधार और सशोधन करते रहे। वस्तुत इस पुस्तक मे ह्यूम ने धर्म तथा ईश्वर के विषय मे जो विचार व्यक्त किये है वे उस युग के कट्टर धार्मिक रूढिवाद को देखते हुए निश्चय ही बहुत आश्चर्यजनक तथा क्रातिकारी हैं। इस पुस्तक से यह स्पष्टत ज्ञात होता है कि धर्म तथा ईश्वर के विषय मे उनका चिंतन तत्कालीन अधिकतर दार्शनिको के चिंतन की अपेक्षा कही अधिक तर्कसगत था।

हमने ऊपर ह्यूम की महत्वपूर्ण कृतियो का उल्लेख किया है। इन कृतियो की विविध विषयवस्तु से यह पूर्णत स्पष्ट हो जाता है कि उनके दर्शन का क्षेत्र बहुत व्यापक है। उन्होने अपनी कृतियो मे ज्ञानमीमान्सा, नीतिशास्त्र, धर्म-दर्शन, राजनीति-दर्शन, सौन्दर्यशास्त्र आदि दर्शन सम्बन्धी सभी महत्वपूर्ण विधाओ का विस्तृत एव गम्भीर विवेचन किया है। इससे स्पष्ट है कि ह्यूम के चिन्तन का क्षेत्र उनके पूर्व-वर्ती दार्शनिको के चिन्तन के क्षेत्र की अपेक्षा कही अधिक व्यापक है। इस दृष्टि से उनकी तुलना कान्ट के साथ की जा सकती है। प्रस्तुत पुस्तक मे ह्यूम के दर्शन का विस्तृत विवेचन करना सम्भव नही है, अत यहाँ उनके दर्शन के कुछ महत्वपूर्ण पक्षो पर ही सक्षेप मे विचार किया जायेगा।

□□□

भाग—1

ज्ञान मीमांसा

(1) ज्ञानमीमांसा की पृष्ठभूमि

ज्ञानमीमामा ह्यूम के दर्शन का शायद सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष है। ह्यूम की कृतियो का परिचय देते हुए हम पीछे इस तथ्य का उल्लेख कर चुके हैं कि उनकी प्रथम पुस्तक 'ए ट्रिटाइजआफ ह्यूमन नेचर' के प्रथम भाग—जिसे उन्होने 'बुक 1' की सज्ञा दी है—मे ज्ञानमीमासा सम्बन्धी प्रमुख समस्याओ का ही विस्तृत विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त अपनी एक अन्य पुस्तक 'एन इन्क्वायरी कन्सर्निंग ह्यूमन अडरस्टेंडिंग' मे भी उन्होंने मुख्यत ज्ञानमीमामा से सम्बन्धी समस्याओ पर विस्तार-पूर्वक विचार किया है। इन दोनो पुस्तकों में ह्यूम ने ज्ञान की सीमा, उसके मूल तत्व—अर्थात् सस्कार और प्रत्यय, ज्ञान प्राप्त करने के आधारभूत नियम, कारण और कार्य का सम्बन्ध, देश-काल विषयक प्रत्यय, विश्वास का स्वरूप तथा मानव-जीवन के लिये उसका महत्व, भौतिक वस्तुओ के स्वतन्त्र अस्तित्व में हमारे विश्वास के मूल कारण, आत्मा का स्वरूप, व्यक्तिगत अनन्यता आदि ज्ञानमीमासा सम्बन्धी महत्वपूर्ण विषयो की अपनी अनुभववादी विचारधारा के आधार पर सविस्तार व्याख्या की है। प्रस्तुत भाग के अगले खण्डो मे हम इन्ही विषयो के सम्बन्ध मे उनके विचारो का विवेचन करेंगे। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि *व्यापक अर्थ मे अनुभव ही* ह्यूम के मतानुसार हमारे समस्त *ज्ञान का मूल* आधार है। दूसरे शब्दो मे, विभिन्न इन्द्रियो द्वारा अनुभव प्राप्त करने की हमारी क्षमता ही मूलत हमारे ज्ञान की सीमा को निर्धारित करती है। हमारे लिए ऐसी किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है जो हमारे अनुभव का विषय नही हो सकती। यही अनुभववादी सिद्धान्त ह्यूम की ज्ञानमीमासा का ही नही, अपितु उनके सम्पूर्ण दर्शन का आधारभूत सिद्धान्त है। हम आगे देखेगे कि इसी सिद्धान्त के आधार पर उन्होने अमूर्त प्रत्ययो तथा द्रव्य और आत्मा सम्बन्धी परम्परागत मान्यताओं अथवा प्राक्कल्पनाओ का खडन किया है। कारण और कार्य के सम्बन्ध की अनिवार्यता तथा भौतिक वस्तुओ के स्वतन्त्र अस्तित्व की उन्होने जो मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है वह भी मूलत इस अनुभवमूलक सिद्धान्त पर आधारित है। जैसा कि हम आगे अधिक विस्तारपूर्वक स्पष्ट करेंगे, ह्यूम ने मनुष्य के नैसर्गिक—किन्तु अबौद्धिक—विश्वास को ही कारण-कार्य सम्बन्धी अनिवार्यता के प्रत्यय का उद्गम-स्रोत माना है और इसी नैसर्गिक विश्वास के आधार पर ही उन्होने भौतिक वस्तुओ के स्वतन्त्र अस्तित्व की भी व्याख्या की है। उनका मत है कि प्राकृतिक विश्वास के

अभाव मे केवल तर्कबुद्धि द्वारा हम कारण-कार्य सम्बन्धी अनिवार्यता के प्रत्यय और भौतिक वस्तुओ के स्वतन्त्र अस्तित्व की व्याख्या नही कर सकते। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ह्यूम की ज्ञानमीमासा मे प्राकृतिक विश्वास का वही महत्वपूर्ण स्थान है जो उनके नैतिक दर्शन मे भावना अथवा मनोवेग का है। उनकी निश्चित मान्यता है कि जिस प्रकार नैतिकता के क्षेत्र मे तर्कबुद्धि हमारे कर्मो की प्रेरणा-शक्ति नही हो सकती उसी प्रकार ज्ञान के क्षेत्र मे वह कारण-कार्य की अनिवार्यता के प्रत्यय तथा भौतिक वस्तुओ के स्वतन्त्र अस्तित्व को भी प्रमाणित नही कर सकती। ज्ञान की दृष्टि से ह्यूम का सशयवाद—जिसका विवेचन हम इस भाग के अतिम खड मे करेंगे—उनकी इसी मान्यता पर आधारित प्रतीत होता है।

आशा है ह्यूम की ज्ञानमीमासा सम्बन्धी उपर्युक्त सक्षिप्त पृष्ठभूमि इस विषय से सम्बद्ध उन समस्याओ को समझने मे पाठको के लिए सहायक सिद्ध होगी जिन पर हम इस भाग के अगले खडो मे विचार करेंगे।

(2) सस्कार और प्रत्यय

अनुभववाद के प्रवर्तक लॉक की भाँति ह्यूम ने भी अपने दर्शन का प्रारम्भ मानवीय ज्ञान के मूल-तत्वो के विवेचन से ही किया है। ये दोनो अनुभववादी दार्शनिक अपने-अपने ढग से सर्वप्रथम इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास करते है कि मनुष्य वाह्य जगत का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त करता है और उसके इस ज्ञान का मूल आधार क्या है। इन दोनो दार्शनिको का यह निश्चित मत है कि मनुष्य के सम्पूर्ण ज्ञान का अन्तिम आधार उसका अनुभव ही है, जिस वस्तु का हम अनुभव प्राप्त नही कर सकते उसे जानना हमारे लिए सम्भव नही है। मानवीय ज्ञान सम्बन्धी इसी आधारभूत मान्यता को दोनो दार्शनिको ने भिन्न-भिन्न ढग से प्रस्तुत किया है। लॉक यह मानते थे कि हमारा सम्पूर्ण ज्ञान अतत सरल प्रत्ययो पर ही आधारित रहता है, किन्तु ह्यूम ने मानवीय ज्ञान के मूल तत्वो को 'प्रत्यक्षो' की सज्ञा दी है। वे ऐसे सभी मानसिक तत्त्वो को 'प्रत्यक्ष' कहते है जिनका हम अनुभव करते हैं। इस प्रकार ह्यूम के विचार मे चेतना सम्बन्धी मूल तत्व ही 'प्रत्यक्ष' है जिन पर हमारा सम्पूर्ण ज्ञान आधारित रहता है। इन सभी प्रत्यक्षो को उन्होने दो वर्गों मे विभाजित किया हैं। इनके एक वर्ग को वे 'सवेद' कहते है और दूसरे वर्ग को 'प्रत्यय'। 'सस्कार' वे इन्द्रिय सवेदन हैं जिनका हम वाह्य वस्तुओ के साथ इन्द्रियो के सम्पर्क के फलस्वरूप प्रत्यक्षत अनुभव करते है। ह्यूम ने 'सवेद' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ मे किया है, सामान्यत ये 'सवेद' वहुत सजीव तथा प्रवल होते हैं और हमारे मन मे इनका प्रादुर्भाव वाह्य वस्तुओ के साथ हमारी इन्द्रियो के सम्पर्क के परिणामस्वरूप ही होता हैं। ह्यूम के मतानुसार 'प्रत्यय' इन 'सस्कारो' की अस्पष्ट तथा धूमिल प्रतिलिपियाँ अथवा अनुकृतियाँ है और ये हमारे मन मे सदैव सस्कारो के पश्चात् ही उत्पन्न होते है। प्रत्ययो तथा सस्कारो का अन्तर स्पष्ट करते हुए ह्यूम ने कहा है कि प्रत्यय सस्कारो की अपेक्षा कम प्रवल एव कम सजीव होते है और इनकी उत्पत्ति हमारे

मन मे सदा सस्कारो के पश्चात् ही होती है ।[1] इस प्रकार हमारे मन मे सवेद पहले उत्पन्न होते है और प्रत्यय बाद मे । प्रत्येक सस्कार अपने से सम्बद्ध प्रत्यय को अनिवार्यत उत्पन्न करता है जो उस सस्कार की अपेक्षाकृत अस्पष्ट अनुकृति मात्र होता है । उदाहरणार्थ जब हम गुलाब के फूल को देखते, छूते और सू घते है तो उसके रग, आकार तथा सुगध सम्बन्धी सस्कार तुरन्त हमारे मन मे उत्पन्न होते है । ये सस्कार बहुत प्रबल, स्पष्ट और सजीव होते है । इन सभी सस्कारो के फलस्वरूप हमारे मन मे उस फूल के रग, आकार तथा उसकी सुगन्ध से सम्बन्धित प्रत्यय उत्पन्न होते है जो उसके अदृश्य हो जाने के पश्चात् भी हमारे मन मे बने रहते है । इन सस्कारो की पूर्ण अनुकृतिया होते हुए भी ये प्रत्यय सस्कारो की अपेक्षा कम प्रबल, कम स्पष्ट और कम सजीव होते है । इसी कारण ह्यूम ने प्रत्ययो को सस्कारो की 'धूमिल अनुकृतिया' कहा है । स्पष्ट है कि सस्कारो के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने के कारण प्रत्यय पूर्णत उन्ही पर निर्भर रहते है । इस प्रकार सस्कारो पर प्रत्ययो की अनिवार्य तथा पूर्ण निर्भरता को ध्यान मे रखते हुए यह कहा जा सकता है कि ह्यूम के मतानुसार वस्तुत सस्कार ही मानवीय अनुभव और ज्ञान के मूल तत्व है ।

ह्यूम ने सभी सस्कारो को दो वर्गो मे विभाजित किया है—(1) सवेदन सम्बन्धी सस्कार और (2) अनुचिंतन सम्बन्धी सस्कार । उनका कथन है कि "प्रथम प्रकार के सस्कार हमारे मन मे मूलत अज्ञात कारणो से ही उत्पन्न होते है ।"[2] वास्तव मे बाह्य वस्तुओ के साथ हमारी इन्द्रियो के सम्पर्क के फलस्वरूप तुरन्त एव प्रत्यक्षत उत्पन्न होने वाले प्रबल, स्पष्ट तथा सजीव सस्कारो को ही ह्यूम ने 'सवेदन सम्बन्धी सस्कार' कहा है । जब वे यह कहते है कि ये सस्कार मूलत अज्ञात कारणो से उत्पन्न होते है तो इसका अर्थ सम्भवत यह है कि हमे इन सस्कारो के स्रोत का स्पष्ट तथा निश्चित ज्ञान नही है—अर्थात् हम निश्चित रूप से यह नही जानते कि ये सस्कार बाह्य वस्तुओ से उत्पन्न होते है या हमारे मन से उत्पन्न होते है अथवा किसी अन्य शक्ति के प्रभाव के फलस्वरूप हमे ये प्राप्त होते हैं । स्पष्ट है कि सवेदन सम्बन्धी सस्कारो के उद्‌गम के विषय मे ह्यूम निश्चित रूप से कुछ भी कहने मे अपने आप को असमर्थ पाते है । परन्तु उनका यह निश्चित मत है कि ज्ञान की प्राप्ति की दृष्टि से इन सस्कारो का अत्यधिक महत्व है । अनुचिंतन सम्बन्धी सस्कारो की उत्पत्ति उन प्रत्ययो से होती है जो सवेदन सम्बन्धी सस्कारो से उत्पन्न होते हैं । ये अनुचिन्तन सम्बन्धी सस्कार प्रत्यक्षत इन्द्रिय-सवेदनो के परिणामस्वरूप उत्पन्न नही होते । सर्वप्रथम सवेदन सम्बन्धी सस्कारो के फलस्वरूप हमे सुख-दु ख, शीत-उष्ण, भूख-प्यास आदि का ज्ञान होता है । इनके समाप्त हो जाने पर भी हमारे मन मे इनकी अनुकृतिया बनी रहती है जिन्हे 'प्रत्यय' कहा जाता है । इन्ही प्रत्ययो से इच्छा, अनिच्छा, आशा भय आदि कुछ नये सस्कार उत्पन्न होते है जिन्हे ह्यूम ने 'अनुचिंतन सम्बन्धी

(1) देखिये, 'ए ट्रिटाइज ऑफ ह्यूमन नेचर' सम्पादक सेलबी—बिगे, पृ 1

(2) वही पुस्तक, पृ 7 ।

सस्कार' कहा है ।[3] इस प्रकार ये अनुचिंतन सम्बन्धी सस्कार सवेदनो के प्रत्यक्ष परिणाम न होकर सवेदन सम्बन्धी सस्कारो के प्रत्ययो के परिणाम होते है । पुन, स्मृति और कल्पना के फलस्वरूप ये सस्कार अनुचिन्तन सम्बन्धी प्रत्यय उत्पन्न करते है जो इन सस्कारो की पूर्ण अनुकृतिया होते हुए भी इनकी अपेक्षा कम प्रबल और सजीव होते है । इस विवेचन से स्पष्ट है कि ह्यूम के मतानुसार हमारे ज्ञान के मूल तत्त्व सवेदन सम्बन्धी सस्कार ही हैं, क्योकि इन्ही सस्कारो से सवेदन के प्रत्यय उत्पन्न होते हैं और ये प्रत्यय अनुचिंतन सम्बन्धी सस्कारो को तथा ये सस्कार अनुचिंतन के प्रत्ययो को उत्पन्न करते हैं ।

ह्यूम ने सभी प्रत्यक्षो—अर्थात् सस्कारो और प्रत्ययो—को 'सरल' तथा 'जटिल' इन दो वर्गो मे विभाजित किया है । सरल प्रत्यक्ष वे है जिनका भागो मे विभाजन अथवा विश्लेषण करना सम्भव नही है । इसके विपरीत जटिल प्रत्यक्षो को कुछ भागो मे विभाजित कर उनका विश्लेषण किया जा सकता है । उदाहरणार्थ जब हम गुलाब का फूल देखते है तो हमारे मनस् मे तुरन्त उसके लाल रग का सवेदन-सस्कार उत्पन्न होता है । यह सवेदन-सस्कार सरल प्रत्यक्ष है, क्योकि इसका और अधिक विभाजन अथवा विश्लेषण करना असम्भव है । यही बात फूल के स्पर्श, इसकी सुगध तथा इसके अन्य सवेदन-सस्कारो के विषय मे भी कही जा सकती है । परन्तु इस फूल को देखकर हमारे मन मे तुरन्त इसके रग, रूप, आकार स्पर्श, सुगन्ध आदि का जो पूर्ण सवेदन-सस्कार उत्पन्न होता है वह इसका जटिल सवेदन-सस्कार है । इस जटिल सस्कार का रग, आकार, स्पर्श, सुगन्ध आदि सरल सवेदन-सस्कारो मे विश्लेषण किया जा सकता है । स्पष्ट है कि जटिल प्रत्यक्षो का निर्माण अनेक सरल प्रत्यक्षो के सयोग से ही होता है । ह्यूम का मत है कि सरल प्रत्यय सदैव और अनिवार्यत सरल सस्कारो की धूमिल प्रतिमाए अथवा अनुकृतियाँ होते है । इसका अर्थ यही है कि सरल सस्कारो के अभाव मे सरल प्रत्ययो का अस्तित्व असम्भव है । यदि हमारे मन मे किसी वस्तु के सरल सस्कार नही है तो उसके सरल प्रत्यय भी नही हो सकते । ह्यूम ने स्पष्ट कहा है कि इस विषय का कोई अपवाद सम्भव नही है ।[4] परन्तु जटिल प्रत्ययो के विषय मे उनका कथन है कि ये प्रत्यय अपने से सम्बद्ध सरल सस्कारो से कुछ भिन्न भी हो सकते है । हमारे कुछ जटिल प्रत्यय कभी-कभी उन सरल सस्कारो के ठीक समान नही होते जिनकी वे प्रतिमाए अथवा अनुकृतियाँ है । उदाहरणार्थ हम ऐसे प्राणी के जटिल प्रत्यय की कल्पना कर सकते हैं जिसका सिर मनुष्य के सिर जैसा और शेष शरीर सिह के शरीर जैसा हो । इसी प्रकार हम स्वर्ण-नगरी के जटिल प्रत्यय की भी कल्पना कर सकते है । परन्तु यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि ऐसे जटिल प्रत्ययो का निर्माण भी अन्तत कुछ विभिन्न सरल सस्कारो के परिणामस्वरूप ही हो सकता है । वस्तुत ह्यूम यह मानते है कि सामान्यत जटिल

(3) देखिये, वही पुस्तक, पृ० 7 ।
(4) देखिये, वही पुस्तक, पृ० 3 ।

प्रत्यय भी सरल सस्कारो के फलस्वरूप ही उत्पन्न होते है, किन्तु उनके विचार मे ऐसा होना सदैव अनिवार्य नही है, क्योकि सरल प्रत्ययो के विपरीत जटिल प्रत्ययो के निर्माण मे हमारी कल्पना का योगदान भी सम्भव है। इस प्रकार यह कहना अनुचित न होगा कि जटिल प्रत्ययो के निर्माण के लिए भी किसी न किसी रूप मे सरल सस्कारो का होना अनिवार्य है, अत ह्यूम के मतानुसार ये सरल सस्कार ही हमारे ज्ञान के वास्तविक मूल तत्त्व है।

सस्कारो और प्रत्ययो से सम्बन्धित ह्यूम के उपर्युक्त सिद्धात का उनके अनुभववादी दर्शन मे बहुत महत्व है। मूलत इसी सिद्धात के आधार पर उन्होने इस महत्वपूर्ण दार्शनिक प्रश्न का उत्तर दिया है कि मनुष्य किस प्रकार बाह्य जगत् का ज्ञान प्राप्त करता है। हम उनके इस मत का उल्लेख पहले ही कर चुके है कि किसी वस्तु के सस्कारो के अभाव मे उस वस्तु के प्रत्ययो का होना सम्भव नही है। इसी आधार पर उन्होने 'द्रव्य' के प्रत्यय का खडन किया है। 'द्रव्य क्या है ?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ह्यूम ने स्पष्ट कहा है कि किसी वस्तु के विभिन्न गुणो के समूह के अतिरिक्त द्रव्य का कोई अस्तित्व नही है। किसी वस्तु के गुणो से भिन्न और स्वतन्त्र द्रव्य का कोई सस्कार न होने के कारण ही हमारे मन मे वस्तुत इसका कोई प्रत्यय भी नही है। ह्यूम के इस मत पर हम आगे कुछ विस्तारपूर्वक विचार करेगे। द्रव्य के प्रत्यय की भाँति कारण-कार्य सम्बन्ध के विश्लेषण की दृष्टि से भी सस्कारो और प्रत्ययो से सम्बन्धित ह्यूम के सिद्धात का विशेष महत्व है। हम आगे देखेगे कि कारण और कार्य मे अनिवार्य सम्बन्ध के प्रत्यय का कोई सस्कार प्राप्त न होने के कारण ही उन्होने इस अनिवार्य सम्बन्ध के प्रत्यय को अस्वीकार किया है। वास्तव मे ह्यूम मनुष्य के लिए ऐसी किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नही मानते जो उसके अनुभव से परे है—अर्थात् जिसके सस्कार और प्रत्यय वह ग्रहण नही कर सकता। उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति जन्म से ही दृष्टिहीन तथा बधिर है तो उसके मन मे रगो एव ध्वनियो से सम्बन्धित सस्कार और प्रत्यय कभी उत्पन्न नही हो सकते, फलत वह इन रगो तथा ध्वनियो का वास्तविक ज्ञान कदापि प्राप्त नही कर सकता। यही बात ऐसी अन्य सभी वस्तुओ के ज्ञान के विषय मे भी कही जा सकती है जिनके सस्कार और प्रत्यय हमारे लिए अप्राप्य हैं—अर्थात् जो हमारे अनुभव से परे है। ह्यूम के इस सिद्धात के अनुसार ऐसे सभी शब्द निरर्थक है जो हमे किसी वस्तु के सस्कारो और प्रत्ययो का बोध नही कराते। अपनी इस मान्यता को स्पष्ट करते हुए उन्होने लिखा है कि "यदि हमे यह सदेह हो कि किसी दार्शनिक शब्द का प्रयोग किसी प्रकार के अर्थ का बोध कराये बिना ही किया जा रहा है तो हमे यह प्रश्न उठाना चाहिए कि उस शब्द से जिस तथाकथित प्रत्यय का बोध होता है वह किस सस्कार से प्राप्त किया गया है और यदि ऐसे किसी प्रत्यय की ओर सकेत करना असम्भव है तो इससे हमारे सदेह की पुष्टि हो जायेगी।"[5] इस प्रकार

(5) 'ऐन ऐन्क्वायरी कन्सरनिंग ह्यूमन अडरस्टैंडिंग', सम्पादक सी० डब्ल्यू० हैडेल, पृ० 22।

ह्यूम के अनुसार किसी निश्चित सस्कार तथा उसके प्रत्यय का वोध कराने वाला शब्द ही वास्तव मे सार्थक हो सकता है, जिस शब्द से किसी प्रकार के सस्कार और प्रत्यय का वोध नही होता वह नितान्त निरर्थक है। यहाँ ह्यूम के दर्शन मे आधुनिक तर्कीय प्रत्यक्षवाद का पूर्वाभास स्पष्टत परिलक्षित होता है। ए० जे० एयर, रूडोल्फ कार्नेप, मारिट्ज श्लिक आदि तर्कीय प्रत्यक्षवादियो ने भी शब्दो की सार्थकता के लिए मूलत इसी कसौटी को स्वीकार करते हुए सत्यापन-सिद्धात का प्रतिपादन किया है। इससे वर्तमान युग मे भी सस्कारो और प्रत्ययो से सम्बन्धित ह्यूम के सिद्धात का महत्व पूर्णत स्पष्ट हो जाता है।

प्रस्तुत खड को समाप्त करने से पूर्व सक्षेप मे इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि क्या लॉक की भाँति ह्यूम भी 'जन्मजात प्रत्ययो' का खण्डन करते है। यदि 'जन्मजात प्रत्ययो' का अर्थ ऐसे प्रत्यय हैं जो मनुष्य के मन मे जन्म से ही विद्यमान रहते है और जिनके लिए किसी प्रकार के अनुभव की आवश्यकता नही होती तो निश्चय ही ह्यूम ऐसे प्रत्ययो के अस्तित्व को स्वीकार नही करते। हम देख चुके है कि उनके अनुसार प्रत्येक सरल प्रत्यय अनिवार्यत किसी सरल सस्कार की प्रतिमा या अनुकृति हे और हमारे मन मे प्रत्येक सरल वाह्य वस्तुओ के साथ हमारी इन्द्रियो के सम्पर्क के फलस्वरूप ही उत्पन्न होता है। इसका अर्थ यही है कि सरल सस्कारो और प्रत्ययो के लिए किसी न किसी रूप मे अनुभव का होना नितान्त अनिवार्य हैं। ऐसी स्थिति मे ये सस्कार और प्रत्यय जन्मजात नही हो सकते। इसी प्रकार जटिल सस्कारो तथा प्रत्ययो को भी जन्मजात नही माना जा सकता, क्योकि ये सस्कार प्रत्यय भी मूलत सरल सस्कारो तथा प्रत्ययो के सयोग के फलस्वरूप ही उत्पन्न होते हैं। वास्तव मे पूर्णत अनुभववादी दार्शनिक होने के कारण ह्यूम भी लॉक की भाँति किसी भी सस्कार और प्रत्यय को उस अर्थ मे जन्मजात नही मानते जिस अर्थ मे डेकार्ट तथा कुछ अन्य बुद्धिवादी दार्शनिक मानते थे। सक्षेप मे ह्यूम का यह निश्चित मत है कि मानव मन मे ऐसा कोई सस्कार या प्रत्यय नही हो सकता जो उसे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप मे स्वय अपने अनुभव द्वारा प्राप्त न हुआ हो।

(3) प्रत्ययो का साहचर्य

पिछले खण्ड मे हम देख चुके हैं कि ह्यूम के मतानुसार सम्पूर्ण मानव-ज्ञान अनिवार्यत सस्कार-मूलक है, अत सस्कारो और प्रत्ययो के अभाव मे हमारे लिए किसी भी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नही है। अव विचारणीय प्रश्न यह है कि इन सस्कारो और प्रत्ययो के माध्यम से हम वाह्य जगत् का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त करते हैं। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये ह्यूम ने प्रत्ययो मे पारस्परिक सम्बन्ध अथवा साहचर्य स्थापित करने वाले कुछ महत्वपूर्ण नियमो का उल्लेख किया है। यहाँ इन नियमो का विवेचन करने से पूव यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ह्यूम मूलत सभी प्रत्यक्षो अर्थात् सस्कारो और प्रत्ययो को एक-दूसरे से भिन्न मानते हैं। उनका कथन है कि सभी प्रत्यक्षो को अलग-अलग करके एक-दूसरे से उनका भेद

स्पष्ट किया जा सकता है। परन्तु यदि हमारे मन मे सभी संस्कार एक-दूसरे से पृथक् रहे तो उनके आधार पर हम किसी वस्तु के जटिल प्रत्यय की रचना नही कर सकते और ऐसी स्थिति में हमे किसी भी वस्तु का ज्ञान प्राप्त नही हो सकता। इससे यह स्पष्ट है कि ज्ञान-प्राप्ति के लिए संस्कारो और प्रत्ययो का संगठित तथा एक-दूसरे से सम्बद्ध होना अनिवार्य है। परन्तु संस्कारो तथा प्रत्ययो का यह संगठन अथवा पारस्परिक सम्बन्ध केवल संयोग पर ही आधारित नही हो सकता, इसके लिये कुछ विशेष नियमो का होना आवश्यक है। ह्यूम ने प्रत्ययो मे परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने वाले तीन नियमो का उल्लेख किया है जिन्हे वे 'गुणो' की संज्ञा देते हैं। ये नियम हैं 'सादृश्य', 'देश-काल सम्बन्धी सामीप्य' तथा 'कारण और कार्य'।[6] इन्ही नियमो के फलस्वरूप विभिन्न प्रत्ययो के परस्पर सम्बन्ध स्थापित होता है और नियमित रूप से हमारे जटिल प्रत्ययो मे एक जैसे सरल प्रत्यय संगठित होते है। उदाहरणार्थ जब हम किसी व्यक्ति का चित्र देखते है तो सादृश्य के नियम के कारण हमे उस व्यक्ति का स्मरण हो आता है। यदि व्यक्ति और उसके चित्र मे समानता न होती हो तो हम चित्र को देखकर उस व्यक्ति को स्मरण नही कर सकते थे। इसी प्रकार जब कोई दो घटनाए एक ही स्थान पर अथवा एक ही समय मे घटित होती है तो उनमे से किसी एक घटना की पुनरावृत्ति होने पर हमे तुरन्त उससे सम्बद्ध दूसरी घटना याद आ जाती है। यदि हम किन्ही दो व्यक्तियो को एक ही स्थान पर अथवा एक ही समय मे सदैव साथ-साथ रहते हुए देखते रहे है तो उनमे से किसी एक को देखकर हमे तुरन्त दूसरे का स्मरण हो आता है और ऐसा देश-काल के सामीप्य के कारण ही होता है। इसी प्रकार यदि हम किन्ही दो घटनाओ को सदैव कारण और कार्य के रूप मे देखते रहे है तो उनमे से किसी एक घटना को देखकर हमे तत्काल दूसरी घटना की याद आ जाती है। उदाहरण के लिए यदि हम किसी व्यक्ति के शरीर पर घाव देखते है तो हमारे मन मे तुरन्त उस घाव के फलस्वरूप होने वाली पीडा का विचार उत्पन्न होता है, क्योकि हमने घाव और पीडा को सदैव कारण-कार्य के रूप मे ही देखा है। संक्षेप मे इन्ही तीन नियमो अथवा इनमे से किसी एक नियम के कारण ही हमारे मन मे एक प्रत्यय से अन्य प्रत्यय उत्पन्न होते है, अतः इन्हे ह्यूम ने प्रत्ययो के साहचर्य के नियम' कहा है। इनमे से कारण-कार्य का नियम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है जिस पर हम आगे विस्तारपूर्वक विचार करेगे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ह्यूम के अनुसार सादृश्य, देश-काल सम्बन्धी सामीप्य तथा कारण-कार्य के नियम के फलस्वरूप वस्तुओ मे प्रत्यक्ष रूप से ही नही परोक्ष रूप से भी सम्बन्ध हो सकता है। अपने इस मत को स्पष्ट करते हुए उन्होने लिखा है कि "हमारी कल्पना मे कोई दो वस्तुए केवल इसीलिए परस्पर सम्बद्ध नही होती कि वे एक-दूसरे के सदृश तथा निकट हैं और उनमे से एक दूसरी वस्तु का कारण है, अपितु वे मध्यवर्ती किसी ऐसी

(6) देखिये 'ए ट्रिटाइज आफ ह्यूमन नेचर' पृ० 11।

तीसरी वस्तु के कारण भी परस्पर सम्बन्धित हो जाती हैं जो दोनो वस्तुओ के साथ सादृश्य, देश-काल सम्बन्धी सामीप्य अथवा कारण-कार्य का सम्बन्ध रखती हे।"[7] उदाहरणार्थ सादृश्य, देश-काल सम्बन्धी सामीप्य अथवा कारण-कार्य के नियम के फलस्वरूप कोई दो वस्तुए 'क' और 'ग' परस्पर प्रत्यक्षत सम्बद्ध न होकर किसी अन्य तीसरी वस्तु 'ख' के कारण परोक्षत परस्पर सम्बन्धित हो सकती हैं जो इन दोनो वस्तुओ के सदृश, देश-काल की दृष्टि से इनके निकट अथवा कारण-कार्य के रूप मे इन से सम्बद्ध है। इसी प्रकार इन तीनो नियमो अथवा इनमे से किसी एक नियम के अनुसार किन्ही दो वस्तुओ मे परोक्ष सम्बन्ध स्थापित करने वाली एक से अधिक मध्यवर्ती वस्तुएँ भी हो सकती हैं। स्पष्ट है कि उपर्युक्त साहचर्य के नियम प्रत्यक्षत ही नही, अपितु परोक्षत भी वस्तुओ अथवा प्रत्ययो मे परस्पर सम्बन्ध स्थापित करते हैं। परन्तु यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि ह्यूम के मतानुसार साहचर्य के ये नियम वस्तुगत न होकर आत्मगत ही हैं—अर्थात् भौतिक वस्तुओ तथा उनके प्रत्ययो मे ऐसा कुछ नही है जो उन्हे परस्पर सम्बद्ध करता है, स्वय हमारा अपना मन ही इन नियमो के कारण उनमे पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। इस प्रकार ज्ञान-प्राप्ति के लिये मनोवैज्ञानिक दृष्टि से साहचर्य के इन नियमो का विशेप महत्व है।

ह्यूम का कथन है कि साहचर्य के उपर्युक्त नियमो के आधार पर स्मृति और कल्पना इन दोनो शक्तियो के कारण हमारे मन मे उन सस्कारो के प्रत्यय पुन जागृत हो जाते हैं जिनका हमने अनुभव किया है। स्मृति के फलस्वरूप हमारे मन मे जिन प्रत्ययो की पुनरावृत्ति होती है वे अधिक प्रबल, स्पष्ट तथा सजीव होते हैं। इसके अतिरिक्त स्मृति के कारण हमारे मन मे इन प्रत्ययो की पुनरावृत्ति लगभग उसी क्रम मे होती है जिस क्रम मे हमने भूतकाल मे इनका अनुभव किया था। यदि ऐसा नही होता है तो हम यह मानते है कि हमारी स्मृति मे कोई दोप रह गया है। इस प्रकार स्मृति हमारे प्रत्ययो को पर्याप्त सीमा तक प्रबल, स्पष्ट तथा सजीव ही नही रखती, अपितु वह उनके क्रम को भी यथावत् बनाये रखती है। परन्तु हमारी कल्पना-शक्ति कुछ भिन्न प्रकार से कार्य करती है। इसके कारण हमारे मन मे जो प्रत्यय उत्पन्न होते है वे स्मृति के प्रत्ययो की अपेक्षा कम स्पष्ट और सजीव होते हे। यही नही, इन प्रत्ययो का स्थान और क्रम भी परिवर्तित हो जाता है। हमारी कल्पना अनुभूत वस्तुओ के प्रत्ययो के क्रम को किसी भी रूप मे सगठित करने के लिये पूर्णत स्वतन्त्र है। उदाहरण के लिए हम उडने वाले घोडे तथा स्वर्ण-गिरि की कल्पना कर सकते है यद्यपि हमने वास्तविक जीवन मे ये वस्तुए मे कभी नही देखी। इस दृष्टि से हमारी स्मृति बधन मे है, क्योकि उसका कार्य अपरिवर्तित क्रम मे उन्ही प्रत्ययो की पुनरावृत्ति तक ही सीमित है जिनका हमने वास्तव मे अनुभव किया है। यदि पूर्वानुभूत प्रत्ययो अथवा

(7) वही पुस्तक, पृ० 11।

उनके क्रम मे पुनरावृत्ति के समय कोई परिवर्तन हो जाता है तो इसे हम 'स्मृति का दोप' कहते हैं। सक्षेप मे कल्पना हमारे मन मे प्रत्ययो को नवीन क्रम मे उत्पन्न करती है जबकि स्मृति पूर्वानुभूत प्रत्ययो को ही उनके क्रम मे कोई परिवर्तन किये विना पुन जागृत करती है। परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ह्यूम के अनुसार स्मृति और कल्पना मे उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण अन्तर होते हुए भी ये दोनो शक्तियाँ अन्तत उन्ही सस्कारो तथा प्रत्ययो पर आधारित हैं जिनका हमने कभी न कभी वास्तविक जीवन मे अनुभव किया है। इसका अभिप्राय यह है कि हमारे लिये ऐसी किसी वस्तु की स्मृति एव कल्पना दोनो ही असम्भव है जो कभी भी हमारे अनुभव का विपय नही रही—अर्थात् जिसके सस्कारो और प्रत्ययो को हमने कभी अनुभव नही किया। इस प्रकार ह्यूम के विचार मे हमारी स्मृति तथा कल्पना के अन्तिम मूल आधार भी हमारे पूर्वानुभूत सस्कार और प्रत्यय ही हैं जिनके विना इनमें से कोई भी शक्ति अपना कार्य नही कर सकती।

(4) अमूर्त प्रत्ययो का खंडन

सस्कारो और प्रत्ययो के स्वरूप, भेद तथा साहचर्य के विषय मे ह्यूम के अनुभववादी सिद्धान्त की व्याख्या के पश्चात् अब सक्षेप मे इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि सामान्य अथवा अमूर्त प्रत्ययो के सम्बन्ध मे उनका क्या मत है। कुछ दार्शनिको का विचार है कि हमारे मन मे ऐसे अनेक प्रत्यय है जो वस्तुओ के विशेष प्रत्ययो से भिन्न है और जो हमे समान विशेपताओ वाली वहुत सी वस्तुओ का वोध कराते हैं। ऐसे प्रत्ययो को ही इन दार्शनिको ने 'सामान्य प्रत्यय' अथवा 'अमूर्त प्रत्यय' कहा है। उदाहरणार्थ 'अश्व' शब्द से हमे केवल एक अश्व अथवा थोडे से अश्वो का ही बोध नही होता, अपितु सभी अश्वो का वोध होता है, अत 'अश्व' का प्रत्यय विशेष प्रत्यय न होकर सामान्य अथवा अमूर्त प्रत्यय ही है। परन्तु वर्कले और ह्यूम दोनो ही इस प्रकार के अमूर्त प्रत्ययो के अस्तित्व को स्वीकार नही करते। वर्कले द्वारा किये गये अमूर्त प्रत्ययो के खडन का पूर्णत समर्थन करते हुए ह्यूम ने स्पष्ट कहा है कि हमारे मन मे इस प्रकार के प्रत्यय नही हो सकते। अपने इस मत की पुष्टि के लिये उन्होने सामान्य अथवा अमूर्त प्रत्ययो के विरुद्ध निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं—

(1) सामान्यत यह माना जाता है कि कोई भी अमूर्त प्रत्यय किसी वस्तु के गुण अथवा उसकी मात्रा के विशेप तारम्य का प्रतिनिधित्व नही करता, किन्तु ह्यूम इस मान्यता को स्वीकार नही करते। उनका कथन है कि "हमारे लिए किसी वस्तु की मात्रा तथा उसके गुणो का विचार करना तव तक नितान्त असम्भव है जब तक हमे इस मात्रा और गुण के सही तारतम्य का ज्ञान नही हो जाता। यह विल्कुल स्पप्ट है कि किसी पक्ति की लम्बाई उस पक्ति से पृथक् नही है—अर्थात् पक्ति और उसकी लम्बाई को एक-दूसरे से अलग नही किया जा सकता।"[8] वस्तुत ह्यूम के उपर्युक्त उदाहरण का

(8) वही पुस्तक, पृष्ठ 18।

तात्पर्य यह है कि हम लम्बाई-चौडाई से पृथक् पक्ति के सामान्य प्रत्यय की कल्पना नही कर सकते। इसी प्रकार हम ऐसी पक्ति के सामान्य प्रत्यय की भी कल्पना नही कर सकते जिसकी लम्बाई को घटाना अथवा बढाना असम्भव हो। इससे स्पष्ट है कि हम केवल किसी विशेष पक्ति के विषय मे ही सोच सकते है, हमारे मन मे पक्ति का कोई सामान्य अथवा अमूर्त प्रत्यय नही हो सकता। (2) सभी सस्कार विशेष तथा निश्चित होते है अत उनके फलस्वरूप उत्पन्न प्रत्यय भी विशेष एव निश्चित ही हो सकते हे, अमूर्त अथवा सामान्य नही। हम देख चुके हे कि प्रत्येक प्रत्यय अनिवार्यत किसी सस्कार की प्रतिमा या अनुकृति मात्र होता हे, ऐसी स्थिति मे प्रत्यय का स्वरूप सस्कार के स्वरूप से मूलत भिन्न नही हो सकता। हमारे सस्कार कभी अमूर्त या सामान्य नही होते, अत उनसे उत्पन्न प्रत्यय भी अमूर्त अथवा सामान्य नही हो सकते। (3) प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व केवल एक विशेष वस्तु के रूप मे ही सम्भव है। उदाहरणार्थ त्रिभुज का अस्तित्व एक विशेष आकार की और तीन कोणो वाली वस्तु के रूप मे ही सम्भव है, इस विशेष आकार और तीन कोणो वाली वस्तु से पृथक् किसी त्रिभुज के अस्तित्व की कल्पना नही की जा सकती। ऐसी स्थिति मे त्रिभुज का प्रत्यय भी विशेष तथा निश्चित ही हो सकता है, अमूर्त अथवा सामान्य नही। यदि किसी वस्तु के रूप, रग, आकार आदि से पृथक् उसका अस्तित्व नही हो सकता तो ठीक यही बात उसके प्रत्यय के विषय मे कही जा सकती है। वस्तुत प्रत्येक वस्तु की भाति उसका प्रत्यय भी अमूर्त अथवा सामान्य न होकर अनिवार्यत विशेष ही होता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक वस्तु का प्रत्यय अनिवार्यत उसके सस्कार की अनुकृति मात्र है। उपर्युक्त सभी तर्कों द्वारा ह्यूम ने यही प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि तथाकथित सामान्य प्रत्यय वास्तव मे विशेष प्रत्यय ही है, क्योकि किसी भी प्रत्यय के विषय मे सोचते समय हमारे मन मे उस विशेष वस्तु की प्रतिमा होती है जिसका वह प्रत्यय है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि यदि सामान्य प्रत्ययो का अस्तित्व नही हे तो ह्यूम ऐसे शब्दो की व्याख्या किस प्रकार करते है जिनमे से प्रत्येक शब्द द्वारा किसी एक वस्तु का नही अपितु बहुत-सी समान वस्तुओ का बोध होता है। ह्यूम यह तो स्वीकार करते हैं कि एक ही शब्द अनेक समान वस्तुओ का बोध करा सकता है, किन्तु उनका मत है कि इससे सामान्य प्रत्ययो का अस्तित्व प्रमाणित नही होता। उदाहरणार्थ 'वृक्ष' शब्द से हमे किसी एक वृक्ष का नही अपितु बहुत से वृक्षो का बोध होता है, परन्तु इससे यह सिद्ध नही होता कि वृक्ष का कोई ऐसा सामान्य प्रत्यय है जो किसी वृक्ष के विशेष प्रत्यय से भिन्न हो। ह्यूम का कथन है कि इस प्रकार के प्रत्येक शब्द से वस्तुत हमे एक समय मे एक विशेष वस्तु के प्रत्यय का ही बोध होता है। जब हम 'वृक्ष' शब्द बोलते अथवा सुनते हैं तो हमारे मन मे किसी एक वृक्ष की प्रतिमा उपस्थित होती है और यह प्रतिमा उस वृक्ष का विशेष प्रत्यय है। इसी प्रकार 'मनुष्य' शब्द सुनते ही हमारे मन मे किसी विशेष व्यक्ति की प्रतिमा उत्पन्न होती है

किसी प्रकार के द्रव्य के प्रत्यय की कल्पना करना नितात असम्भव है। द्रव्य के विषय मे ह्यूम की यह मान्यता उनके सस्कार-प्रत्यय सम्बन्धी मूल सिद्धान्त पर ही आधारित है। हम देख चुके है कि उनके मतानुसार सस्कार की अनुकृति मात्र होने के कारण कोई भी प्रत्यय हमारे मन मे तव तक उत्पन्न नही हो सकता जब तक हमने उससे सम्वद्ध सस्कार का अनुभव न किया हो। इसी कारण द्रव्य के विषय मे भी ह्यूम यह प्रश्न उठाते है कि उसका प्रत्यय हमे किस सस्कार से प्राप्त हुआ है। वे पूछते है कि क्या हमे द्रव्य का प्रत्यय किसी सवेदन सम्बन्धी सस्कार से प्राप्त होता है। यदि इस प्रश्न के उत्तर मे 'हाँ' कहा जाये तो इसका अर्थ यह होगा कि 'द्रव्य' रग, ध्वनि, स्वाद आदि गुणो मे से ही कोई एक गुण है। परन्तु जो दार्शनिक द्रव्य का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करते है वे इसे वस्तु का गुण नही मानते। इससे स्पष्ट है कि द्रव्य का प्रत्यय हमे किसी सवेदन सम्बन्धी सस्कार से प्राप्त नही होता। अब प्रश्न यह है कि क्या हमे द्रव्य का प्रत्यय अनुचिंतन के किसी सस्कार से प्राप्त हो सकता है। जैसा कि हम पहले ही वता चुके है, इच्छा, घृणा, भय, आशा आदि मनोवेगो को ही ह्यूम ने 'अनुचिंतन के सस्कार' कहा है। यह स्पष्ट है कि द्रव्य की सत्ता स्वीकार करने वाले दार्शनिक किसी भी मनोवेग को द्रव्य नही मानते। ऐसी स्थिति मे अनुचिंतन सम्वन्धी किसी सस्कार से भी हमे द्रव्य का प्रत्यय प्राप्त नही हो सकता। इन तर्को के आधार पर ह्यूम ने यह निष्कर्ष निकाला है कि हम किसी भी सस्कार से द्रव्य का प्रत्यय कभी प्राप्त नही कर सकते, अत हमारे मन मे ऐसा कोई प्रत्यय नही है। अपने इसी निष्कर्ष को स्पष्ट करते हुए उन्होने लिखा है कि "विशेष गुणो के सघात के प्रत्यय से पृथक् हमारे मन मे द्रव्य का कोई प्रत्यय नही है। जव हम द्रव्य के सम्बन्ध मे विचार अथवा तर्क करते है तो गुणो के सघात के अतिरिक्त इसका और कोई अर्थ नही हो सकता। द्रव्य का प्रत्यय सरल प्रत्ययो के सघात के अतिरिक्त और कुछ नही है जो कल्पना द्वारा परस्पर सम्वद्ध हो जाते है और जिन्हे हम एक विशेष नाम दे देते है जिसे सुनकर हमे तथा दूसरो को इस सघात का स्मरण हो आता है।"[10] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि ह्यूम भौतिक द्रव्य के प्रत्यय का खडन करते है। हम आगे देखेंगे कि वे आध्यात्मिक द्रव्य—अर्थात् मन अथवा आत्मा—के अस्तित्व को भी स्वीकार नही करते। सक्षेप मे ह्यूम के मतानुसार हमारे लिए किसी प्रकार के तथाकथित द्रव्य के प्रत्यय की कल्पना करना सम्भव नही है। द्रव्य के विषय मे ह्यूम की यह मान्यता उनके अनुभववाद को उस चरम सीमा तक ले जाती है जिससे आगे वढना असम्भव है।

अव विचारणीय प्रश्न यह है कि यदि द्रव्य वस्तु के विभिन्न गुणो के सघात का ही नाम है तो इन गुणो मे परस्पर सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित होता है। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए ह्यूम ने विशेष रूप से कुछ महत्वपूण सम्वन्धो का उल्लेख

(10) वही पुस्तक पृ० 16।

किया है। उनका कथन है कि सम्बन्ध मुख्यत दो प्रकार के है—प्राकृतिक सम्बन्ध और दार्शनिक सम्बन्ध। जिन गुणो के कारण प्रत्ययो मे साहचर्य स्थापित होता है उन्हे ह्यूम ने 'प्राकृतिक सम्बन्ध' कहा है। सादृश्य, देश-काल सम्बन्धी सामीप्य तथा कारण और कार्य ये तीनो प्राकृतिक सम्बन्ध हैं। हम देख चुके हैं कि इन तीनो सम्बन्धो के कारण हमारे प्रत्यय परस्पर सम्बद्ध हो जाते है। इन्हे 'प्राकृतिक सम्बन्ध' इसलिए कहा गया है कि ये प्रत्ययो मे साहचर्य स्थापित करने वाली हमारी नैसर्गिक मानसिक शक्ति पर ही निर्भर हैं। दार्शनिक सम्बन्ध वे हैं जो प्रत्ययो मे साहचर्य तो स्थापित नही करते किन्तु जिनकी सहायता मे हम वस्तुओ के पारस्परिक सम्बन्ध को समझ सकते हैं। ह्यूम ने निम्नलिखित सात दार्शनिक सम्बन्धो का उल्लेख किया है—(1) सादृश्य, (2) देश और काल का सम्बन्ध, (3) कारण और कार्य का सम्बन्ध, (4) अभेद (5) मात्रा अथवा संख्या का अनुपात, (6) गुण अथवा गुणो का तारतम्य, (7) वैपरीत्य। दार्शनिक सम्बन्धो की इस सूची मे स्पष्ट है कि इनमे वे तीन सम्बन्ध भी सम्मिलित है जिन्हे ह्यूम ने 'प्राकृतिक सम्बन्ध' कहा है। परन्तु दार्शनिक सम्बन्धो के रूप मे ये हमारे प्रत्ययो मे साहचर्य स्थापित नही करते, अपितु वस्तुओ के पारस्परिक सम्बन्धो को समझने मे हमारे लिए सहायक होते हैं। उदाहरणार्थ सादृश्य के अभाव मे हम वस्तुओ की तुलना नही कर सकते, अत दार्शनिक सम्बन्ध के रूप मे यह प्रत्ययो मे साहचर्य स्थापित न कर के वस्तुओ की तुलना करने मे हमारे लिए सहायक होता है। जब यह सादृश्य सभी वस्तुओ अथवा बहुत-सी वस्तुओ मे पाया जाता है तो इसके कारण प्रत्ययो मे साहचर्य स्थापित नही होता। उदाहरण के लिये भौतिक होने के कारण सभी वस्तुओ मे सादृश्य विद्यमान है, किन्तु इस व्यापक सादृश्य के फलस्वरूप एक भौतिक वस्तु को देखकर हमारे मन मे अनिवार्यत किसी विशेष भौतिक वस्तु का प्रत्यय उत्पन्न नही होता। इसी प्रकार सभी पेड-पौधो मे यह सादृश्य पाया जाता है कि वे हरे होते हैं, किन्तु किसी पेड को देखकर इस सादृश्य के कारण हमारे मन मे अनिवार्यत किसी अन्य पेड या पौधे का प्रत्यय उत्पन्न नही होता। स्पष्ट है कि यह व्यापक सादृश्य प्रत्ययो मे साहचर्य की स्थापना के स्थान पर वस्तुओ की तुलना करने मे ही हमारे लिये सहायक सिद्ध होता है, अत इस व्यापक रूप मे सादृश्य का सम्बन्ध केवल दार्शनिक सम्बन्ध है। यही बात दार्शनिक सम्बन्धो के रूप मे देश-काल तथा कारण-कार्य के सम्बन्ध के विषय मे भी कही जा सकती है। एक स्थान पर अथवा एक ही समय मे हम बहुत-सी वस्तुए देखते रह सकते हैं किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि उनमे से किसी एक वस्तु को देखकर हमारे मन मे अनिवार्यत किसी अन्य विशेष वस्तु का प्रत्यय उत्पन्न होगा। इसी प्रकार दार्शनिक सम्बन्ध के रूप मे कारण-कार्य का सम्बन्ध भी वस्तुओ के सामीप्य तथा एक के पश्चात दूसरी घटना के घटित होने तक ही सीमित होता है, अत ऐसी स्थिति मे इसके फलस्वरूप प्रत्ययो मे साहचर्य स्थापित नही होता। इस प्रकार ह्यूम के अनुसार दार्शनिक सम्बन्धो के रूप मे सादृश्य, देश-काल तथा कारण-

कार्य के सम्बन्धो का उद्देश्य प्राकृतिक सम्बन्धो के रूप मे इनके उद्देश्य से बहुत भिन्न है ।

सादृश्य, देश-काल और कारण-कार्य के सम्बन्धो का विवेचन करने के पश्चात् अब सक्षेप मे अन्य चार दार्शनिक सम्बन्धो के विषय मे भी ह्यूम के मत का उल्लेख कर देना आवश्यक है । उनका कथन है कि 'अभेद' का सम्बन्ध सर्वाधिक व्यापक है, क्योकि यह ऐसी प्रत्येक वस्तु मे पाया जाता है जिसका अस्तित्व है—फिर चाहे उसका अस्तित्व बहुत थोडे समय के लिए ही क्यो न हो । 'मात्रा और सख्या के अनुपात' की दृष्टि से भी बहुत-सी वस्तुओ की तुलना की जा सकती है, अत दार्शनिक सम्बन्ध के रूप मे इसका भी बहुत महत्त्व है । जब किन्ही दो वस्तुओ मे कोई समान गुण होता है तो हम उस 'गुण के तारतम्य' की दृष्टि से उन वस्तुओ की तुलना कर सकते हैं । उदाहरणार्थ दो भारयुक्त वस्तुओ की तुलना करके हम यह बता सकते हैं कि उनमे से किसका भार कम और किसका अधिक है । स्पष्ट है कि दार्शनिक सम्बन्ध के रूप मे 'गुण अथवा गुणो का तारतम्य' भी बहुत महत्वपूण है । 'वैपरीत्य' का सम्बन्ध हमे दो वस्तुओ मे विद्यमान अनिवार्य विरोध का बोध कराता है । जब हम कहते हैं कि एक वस्तु 'क' का अस्तित्व है और दूसरी वस्तु ख' का अस्तित्व नही है तो इन दोनो वस्तुओ मे 'वैपरीत्य' का ही सम्बन्ध होता है । हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि दार्शनिक सम्बन्ध के रूप मे 'सादृश्य' वस्तुओ की तुलना के लिए अनिवार्य है । इसी प्रकार दार्शनिक सम्बन्ध के रूप मे 'देश-काल' द्वारा ही हमे वस्तुओ के निकट-दूर, ऊपर-नीचे, पूर्व-पश्चात् आदि का ज्ञान होता है । दार्शनिक सम्बन्ध की दृष्टि से 'कारण-कार्य' के सम्बन्ध पर हम बाद मे विस्तारपूर्वक विचार करेंगे ।

उपर्युक्त दार्शनिक सम्बन्धो मे से ह्यूम कुछ सम्बन्धो को परिवर्तनीय मानते हैं और कुछ को अपरिवर्तनीय । परिवर्तनीय सम्बन्ध वे हैं जिनमे परिवर्तन कर देने से सम्बन्धित वस्तुओ के स्वरूप पर कोई प्रभाव नही पडता । देश-काल का सम्बन्ध, अभेद तथा कारण-कार्य का सम्बन्ध ऐसे ही परिवर्तनीय सम्बन्ध हैं । उदाहरणार्थ यदि किन्ही दो वस्तुओ की दूरी को दस मीटर से बढाकर बीस मीटर कर दिया जाय तो इस परिवर्तन से उन वस्तुओ के स्वरूप पर कोई प्रभाव नही पडेगा, अत देश-काल का सम्बन्ध परिवतनीय सम्बन्ध है । अपरिवर्तनीय सम्बन्ध वे है जो पूर्णत अपने प्रत्ययो पर ही निभर होते हैं और जिनमे परिवतन कर देने से सम्बद्ध वस्तुओ का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है । सादृश्य, गुणो का तारतम्य, मात्रा और सख्या का अनुपात तथा वैपरीत्य ऐसे ही अपरिवतनीय सम्बन्ध हैं । उदाहरणार्थ आम और सेव के वृक्षो मे यह सादृश्य है कि ये दोनो ही फलदार वृक्ष है, किन्तु यदि हम आम के साथ सेव के पेड के स्थान पर कीकर के वृक्ष की कल्पना करें तो इन दोनो वृक्षो मे यह सादृश्य नही रहेगा । इससे स्पष्ट है कि इन दोनो वृक्षो मे से किसी एक वृक्ष के प्रत्यय को परिवर्तित कर देने से इनमें विद्यमान सादृश्य का सम्बन्ध भी समाप्त हो

जाता है। यही बात अन्य अपरिवर्तनीय सम्बन्धो के विषय मे भी कही जा सकती है।

(6) प्रत्ययो के सम्बन्ध और वस्तु-तथ्य

यहा यह उल्लेखनीय है कि ह्यूम अपनी प्रारम्भिक रचना 'ए ट्रिटाइज आफ ह्यूमन नेचर' मे ही प्राकृतिक तथा दार्शनिक सम्बन्धो का उपर्युक्त वर्गीकरण करते हैं। अपनी परवर्ती रचना 'एन इन्क्वायरी कन्सरनिंग ह्यूमन अडरस्टैंडिंग' मे उन्होने सम्बन्धो के इस वर्गीकरण का उल्लेख नही किया है। इस पुस्तक के प्रारम्भ मे ही वे कहते है कि मानव-बुद्धि से सम्बन्धित सभी विषयो को दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है। इनमे से एक वर्ग को उन्होने 'प्रत्ययो के लिए सम्बन्ध' तथा दूसरे को 'वस्तु-तथ्य' की सज्ञा दी है। प्रत्ययो के सम्बन्धो को समझने के लिए हमे किसी प्रकार के अनुभव की आवश्यकता नही है, किन्तु वस्तु-तथ्यो से सम्बन्धित हमारा सम्पूर्ण ज्ञान अनुभव पर ही आधारित होता है। प्रत्ययो के सम्बन्धो को समझने के लिए केवल उन शब्दो के निश्चित अर्थों को जानना आवश्यक है जिनसे इन प्रत्ययो का बोध होता है। यदि हम कहे कि 'दस और पाच पन्द्रह होते हैं' तो इस वाक्य को समझने के लिए हमे 'दस', 'पाच' तथा 'पन्द्रह' इन तीन शब्दो का ठीक-ठीक अर्थ जानना होगा। यदि हम इन शब्दो के अर्थ को भलीभाति जानते हैं तो किसी प्रकार के अनुभव का आधार लिए बिना ही उपर्युक्त वाक्य को ठीक-ठीक समझ सकते है। इसी कारण ह्यूम का मत है कि प्रत्ययो के सम्बन्धो के आधार पर हम जो ज्ञान प्राप्त करते हैं वह पूर्णत सत्य और निश्चित होता है, उसे कभी मिथ्या एव सदिग्ध प्रमाणित नही किया जा सकता। मूलत प्रत्ययो के सम्बन्धो पर आधारित होने के कारण ही हम तर्कशास्त्र, अकगणित, बीजगणित, ज्यामिति आदि के विषय मे असदिग्ध ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इन सभी विज्ञानो मे प्रयुक्त वाक्यो से हमे विश्व सम्बन्धी किसी नवीन तथ्य का ज्ञान प्राप्त नही होता, अत इन्हे विश्लेषणात्मक वाक्य अथवा 'पुनरुक्तियां' कहा जाता है। अनुभव से सम्बन्धित न होने के कारण ही ये विश्लेषणात्मक वाक्य सर्वदा और सर्वत्र असदिग्ध रूप से सत्य होते हैं।

इन विश्लेषणात्मक वाक्यो अथवा पुनरुक्तियो के ज्ञान के विपरीत वस्तु-तथ्यो से सम्बन्धित हमारे सम्पूर्ण ज्ञान का मूल आधार हमारा अनुभव ही है। जब हम यह कहते है कि "अग्नि गर्म और बर्फ ठडी होती है" तो हमारे इस वाक्य का आधार अग्नि तथा बर्फ के सम्बन्ध मे हमारा पूर्वानुभव ही है। अनुभव पर आधारित ऐसे सभी वाक्यो को ही ह्यूम ने 'वस्तु-तथ्य' कहा है। उनका मत है कि वस्तु-तथ्य सम्बन्धी हमारा ज्ञान केवल प्रायिक ही हो सकता है, निश्चित अथवा असदिग्ध नही। इसका कारण यह है कि ऐसे ज्ञान को हमारा भावी अनुभव सिद्धातत कभी भी मिथ्या प्रमाणित कर सकता है। तार्किक दृष्टि से हमारा यह कथन स्वतोव्याघाती नही है

कि भविष्य मे अग्नि ठंडी होगी और बर्फ गर्म। इसी प्रकार बिना किसी स्वतोव्याघात के हम यह कह सकते है कि कल सूर्योदय नही होगा। इन उदाहरणो से स्पष्ट है कि ह्यूम के मतानुसार वस्तु-तथ्य सम्बन्धी दो विपरीतार्थक वाक्यो मे वह तार्किक स्वतोव्याघात नही होता जो प्रत्ययो के सम्बन्धो पर आधारित ऐसे वाक्यो मे अनिवार्यत विद्यमान रहता है। उदाहरणार्थ यदि हम कहते है कि वह वस्तु गोल और चौकोर दोनो एक साथ है तो हमारे इस कथन मे तार्किक स्वतोव्याघात अनिवार्य है। इसका कारण यह है कि हमारा उपर्युक्त कथन 'गोल' और 'चौकोर' इन दो विभिन्न प्रत्ययो से सम्बन्धित है जो किसी भी वस्तु मे एक साथ नही पाये जा सकते। वस्तु-तथ्य सम्बन्धी विपरीतार्थक वाक्यो मे इस प्रकार का तार्किक स्वतोव्याघात नही पाया जाता। "कल सूर्योदय नही होगा" यह वाक्य उतना ही सार्थक और बोधगम्य है जितना "कल सूर्योदय होगा" यह वाक्य है। इन दोनो विपरीतार्थक वाक्यो मे कोई स्वतोव्याघात नही है, क्योकि इनका मूल आधार हमारा पूर्वानुभव ही है जो सिद्धातत कभी भी मिथ्या प्रमाणित हो सकता है। अन्य सभी वस्तु-तथ्य सम्बन्धी वाक्यो के विषय मे भी यही कहा जा सकता है। इसी कारण ह्यूम ऐसे सभी वाक्यो से प्राप्त होने वाले ज्ञान को केवल प्रायिक ही मानते है, निश्चित अथवा असदिग्ध नही। उनके विचार मे कारण-कार्य के नियम के फलस्वरूप ही हम वस्तु-तथ्य सम्बन्धी वाक्यो का प्रायिक ज्ञान प्राप्त करते हैं। यहा इस तथ्य का उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि प्रत्ययो के सम्बन्ध और वस्तु-तथ्य सम्बन्धी ह्यूम के इस वर्गीकरण का आधुनिक तर्कीय प्रत्यक्षवाद के प्रणेताओ के विचारो पर बहुत प्रभाव पडा है। कार्नेप, एयर, श्लिक आदि तर्कीय प्रत्यक्षवादियो ने समस्त सार्थक वाक्यो का 'विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तिया' तथा 'सश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तिया' इन दो वर्गों मे जो विभाजन किया है वह मूलत ह्यूम के इसी वर्गीकरण पर आधारित है। इन तर्कीय प्रत्यक्षवादियो ने 'प्रत्ययो के सम्बन्धो' को 'विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तिया' और 'वस्तु-तथ्य' को 'सश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तिया' कहा है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'लैंग्वेज, ट्रुथ ऐंड लाजिक' की प्रस्तावना के प्रारम्भ मे ही एयर ने लिखा है कि "ह्यूम की भाति मैं समस्त सार्थक प्रतिज्ञप्तियो को दो श्रेणियो मे विभाजित करता हूँ —वे प्रतिज्ञप्तिया जिनका सम्बन्ध ह्यूम के शब्दो मे 'प्रत्ययो के सम्बन्धो' से है और वे प्रतिज्ञप्तिया जो 'वस्तु-तथ्य' से सम्बन्धित हैं।"[11] ह्यूम के समान ही एयर भी प्रथम वर्ग प्रतिज्ञप्तियो को अनिवार्य तथा असदिग्ध और द्वितीय वर्ग प्रतिज्ञप्तियो को केवल प्रायिक ही मानते हैं। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि आधुनिक तर्कीय प्रत्यक्षवादियो ने मूलत ह्यूम के वर्गीकरण को ही स्वीकार किया है।

उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार पर ह्यूम ने गणित सम्बन्धी वाक्यो और अनुभवाश्रित तथ्यात्मक वाक्यो की जो व्याख्या की है उसका भी तर्कीय प्रत्यक्षवादी

(11) ए जे एयर, 'लैंग्वेज, ट्रुथ ऐंड लाजिक', द्वितीय सस्करण, पृ० 31।

समर्थन करते हैं । हम देख चुके हैं कि ह्यूम के मतानुसार गणित के वाक्य पूर्णत प्रत्ययो के सम्बन्धो अथवा सुनिश्चित शब्दार्थो पर ही निर्भर है, अत उनका ज्ञान हमे अनुभव द्वारा नही होता । यदि हम इन वाक्यो मे प्रयुक्त शब्दो के ठीक-ठीक अर्थ जानते हैं तो हम अनुभव का आधार लिये बिना ही इन्हे भलीभाति समझ सकते हैं । इसी कारण ह्यूम द्वारा की गई गणित सम्बन्धी वाक्यो की व्याख्या को 'बौद्धिक व्याख्या' कहा जाता है । आधुनिक तर्कीय प्रत्यक्षवादी भी गणित के वाक्यो की इसी बौद्धिक व्याख्या को ही स्वीकार करते हैं । उन्होने तर्कशास्त्र तथा गणित सम्बन्धी वाक्यो को 'विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तिया' कहा है, क्योकि ये वाक्य पुनरुक्तिया मात्र है—अर्थात् इनके द्वारा हमे विश्व सम्बन्धी किसी नवीन तथ्य का ज्ञान नही होता । गणित सम्बन्धी वाक्यो के विपरीत वस्तु-तथ्य सम्बन्धी वाक्यो की ह्यूम द्वारा कृत व्याख्या पूर्णत अनुभवमूलक है । इसका कारण यह है कि वस्तु-तथ्य सम्बन्धी वाक्यो का ज्ञान प्रत्ययो के सम्बन्धो अथवा शब्दार्थो पर निर्भर न होकर हमारे पूर्वानुभव पर ही आधारित होता है । अपने अनुभव के आधार पर हम प्रत्येक वस्तु-तथ्य सम्बन्धी वाक्य से जगत् के विषय मे किसी नवीन तथ्य का ज्ञान प्राप्त करते हैं । हमारे सीमित अनुभव पर आधारित होने के कारण यह ज्ञान केवल प्रायिक ही होता है, अनिवार्य अथवा असंदिग्ध नही । प्रत्येक वस्तु-तथ्य सम्बन्धी वाक्य का विरोधी वाक्य तार्किक दृष्टि से सम्भव है, अत ऐसा कोई भी वाक्य सर्वत्र और सर्वदा सत्य नही हो सकता । ह्यूम के इस मत को हम सूर्योदय के उदाहरण द्वारा पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं । यहा यह कह देना आवश्यक है कि आधुनिक तर्कीय प्रत्यक्षवादियो ने वस्तु-तथ्य सम्बन्धी वाक्यो के विषय मे भी ह्यूम के मत का समर्थन किया है । ऐसे वाक्यो को वे 'सश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तिया' कहते है जिन्हे वे ह्यूम की भाति अनिवार्य अथवा असदिग्ध न मानकर केवल प्रायिक ही मानते हैं । इस प्रकार आधुनिक तर्कीय प्रत्यक्षवाद को ह्यूम के अनुभववाद का विकसित एवं परिष्कृत रूप माना जा सकता है ।

(7) कारण-कार्य सम्बन्ध

ह्यूम ने अपनी दोनो महत्वपूर्ण पुस्तको—'ए ट्रिटाइज आफ ह्यूमन नेचर' तथा 'ऐन ऐन्क्वायरी कन्सरनिंग ह्यूमन अन्डरस्टैंडिंग'—मे कारण-कार्य सम्बन्ध का विस्तृत विवेचन किया है । उनका मत है कि यह सम्बन्ध बुद्धि अथवा तर्कना पर आधारित न होकर मूलत. हमारे अनुभव पर ही आधारित है । कारण-कार्य सम्बन्ध पर विचार करते हुए उन्होने सर्वप्रथम यह प्रश्न उठाया है कि हमे कारणता का प्रत्यय किस सस्कार से प्राप्त होता है । क्या हम उन वस्तुओ से कारणता का प्रत्यय प्राप्त कर सकते हैं जिन्हे हम 'कारण' कहते है ? इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देते हुए ह्यूम ने कहा है कि 'कारण' मानी जाने वाली वस्तुओ मे कोई ऐसा सामान्य गुण नही है जिसके आधार पर हम उनसे कारणता का प्रत्यय प्राप्त कर सकें । दूसरे

शब्दो मे, जिन वस्तुओ को हम कारण मानते हैं उनसे हम तर्क अथवा अनुभव द्वारा कारणता का प्रत्यय प्राप्त नही कर सकते । इस प्रकार ह्यूम के विचार मे कारणता का प्रत्यय 'वस्तुगत' नही है । उनका कथन है कि "कारणता का प्रत्यय हमे वस्तुओ मे विद्यमान किसी सम्बन्ध से ही प्राप्त हो सकता है ।"[12] यहा स्वभावत यह प्रश्न उठता है कि वस्तुओ मे विद्यमान किस सम्बन्ध से हम कारणता का प्रत्यय प्राप्त कर सकते हैं । इस प्रश्न के उत्तर मे ह्यूम ने तीन सम्बन्धो का उल्लेख किया है जो निम्नलिखित है—(1) दैशिक दृष्टि से वस्तुओ का सामीप्य, (2) कालिक दृष्टि से वस्तुओ मे विद्यमान पौर्वापर्य का क्रम तथा (3) अनिवार्यता का सम्बन्ध । अब हम कारणता के प्रत्यय को उत्पन्न करने वाले इन तीनो सम्बन्धो के विषय मे ह्यूम के मत पर विचार करेंगे ।

जब हम किन्ही दो वस्तुओ या घटनाओ मे से एक को कारण तथा दूसरी को कार्य मानते हैं तो वे सामान्यत एक दूसरे के समीप होती हैं, अत कारण और कार्य मे प्रथम सम्बन्ध सामीप्य का सम्बन्ध है । इसका अर्थ यह है कि दैशिक दृष्टि से कारण और कार्य सामान्यत समीपस्थ होते है । यह सामीप्य प्रत्यक्ष अथवा व्यवधानरहित भी हो सकता है और परोक्ष या व्यवधानयुक्त भी । जब एक लुढकती हुई गेंद दूसरी स्थिर गेंद को आगे धकेल देती है तो इन दोनो गेदो मे व्यवधानरहित सामीप्य का सम्बन्ध स्पष्ट है । जब कोई घटना 'क' किसी दूसरी घटना 'घ' को प्रत्यक्षत उत्पन्न न करके कुछ अन्य घटनाओ—'ख', 'ग' आदि—के माध्यम से उत्पन्न करती है तो प्रथम और अतिम घटना मे परोक्ष अथवा व्यवधानयुक्त सामीप्य होता है । इस प्रकार के सामीप्य के अतर्गत मध्यवर्ती घटनाओ की एक शृखला होती है जो प्रथम घटना और अतिम घटना को कारण-कार्य के रूप मे परस्पर सम्बद्ध करती है । स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति मे कार्य कारण से प्रत्यक्षत सम्बद्ध न होते हुए भी उससे परोक्षत अवश्य सम्बद्ध होता है । परन्तु यहा यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ह्यूम प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष दैशिक सामीप्य को कारण-कार्य के सम्बन्ध के लिए अनिवार्य नही मानते । उनका कथन है कि कोई दो वस्तुए एक-दूसरे के निकट हो सकती हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि वे दोनो अनिवार्यत कारण-कार्य के रूप मे सम्बद्ध होगी । उदाहरणार्थ हमारे मनोवेगो तथा विचारो मे कारण-कार्य का सम्बन्ध हो सकता है, परन्तु उनमे किसी प्रकार का दैशिक सामीप्य नही हो सकता, क्योकि अभौतिक होने के कारण वे स्थान नही घेरते । अपने इसी मत को स्पष्ट करते हुए ह्यूम ने लिखा है कि "नैतिक विचार को मनोवेग के दाए अथवा बाए नही रखा जा सकता, न ही कोई गध अथवा ध्वनि गोल या चौकोर हो सकती है ।"[13] इस प्रकार ह्यूम के मतानुसार सामान्यत कारण-कार्य मे दैशिक सामीप्य का सम्बन्ध होते हुए भी उसके लिए यह सम्बन्ध अनिवार्य नही है ।

(12) 'ए ट्रिटाइज ऑफ ह्यूमन नेचर', पृ० 75 ।
(13) वही पुस्तक, पृ० 236 ।

कारण और कार्य मे दूसरा सम्बन्ध कालिक नियत क्रम अथवा पौर्वापर्य का सम्बन्ध है। जब कोई कारण किसी कार्य को उत्पन्न करता है तो वह सदैव और अनिवार्यत उस कार्य का पूर्ववर्ती होता है। ह्यूम ने स्पष्ट कहा है कि काल की दृष्टि से कारण का अपने कार्य से पहले आना अनिवार्य है। हमारा अनुभव इस बात की पुष्टि करता है कि कारण अपने कार्य का सहवर्ती न होकर सदा पूर्ववर्ती ही होता है। जब एक लुढकती हुई गेंद दूसरी स्थिर गेंद मे टकराकर उसमे गति उत्पन्न करती है तो पहली गेंद मे दूसरी गेंद की अपेक्षा पहले गति उत्पन्न होती है। इस प्रकार कालिक नियत क्रम अथवा पौर्वापर्य का सम्बन्ध कारण-कार्य के सम्बन्ध के लिए आवश्यक है। परन्तु ह्यूम के विचार मे कारण-कार्य के सम्बन्ध को समझने के लिए पौर्वापर्य का यह सम्बन्ध ही पर्याप्त नही है। कोई दो घटनाए एक दूसरे के बाद घटित हो सकती हैं किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि वे दोनो अनिवार्यत कारण-कार्य के रूप मे सम्बद्ध होगी। उदाहरणार्थं स्टेशन पर पहुँचने वाली किन्ही दो गाडियो का समय इस प्रकार नियत किया जा सकता है कि एक गाडी सदैव दूसरी गाडी से पहले पहुचे। परन्तु ऐसी स्थिति मे सदैव पहले पहुचने वाली गाड़ी को दूसरी गाडी का कारण नही माना जा सकता। इस प्रकार यह सम्भव है कि कोई दो घटनाए सदैव एक दूसरे के पश्चात् घटित होते हुए भी कारण-कार्य के रूप मे सम्बद्ध न हो। इसी कारण ह्यूम नियत पौर्वापर्य के सम्बन्ध को भी कारण-कार्य के सम्बन्ध के लिए दैशिक सामीप्य के समान ही अनिवार्य नही मानते। उनके मतानुसार 'यह सम्भव है कि कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु के समीप तथा पूर्ववर्ती होते हुए भी उसका कारण न हो। इन दोनो मे एक अनिवार्य सम्बन्ध का होना आवश्यक है जो पूर्ववर्णित दोनो सम्बन्धो की अपेक्षा कही अधिक महत्त्वपूर्ण है।"[14] अब हम इस अनिवार्य सम्बन्ध के विषय मे ह्यूम के मत पर विचार करेंगे।

ऊपर दिये गए उद्धरण से यह स्पष्ट है कि ह्यूम कारण और कार्य मे अनिवार्य सम्बन्ध स्वीकार करते हैं—अर्थात् वे यह मानते हैं कि एक विशेष कारण एक विशेष कार्य को ही सदा एव अनिवार्यत उत्पन्न करता है। ऐसी स्थिति मे उनके समक्ष मुख्य प्रश्न यह है कि हमे कारण-कार्य के इस अनिवार्य सम्बन्ध का ज्ञान किस प्रकार होता है। दूसरे शब्दो मे, कारण और कार्य मे हम जो अनिवार्यता देखते हैं उसका प्रत्यय हमे किस सस्कार से प्राप्त होता है ? इस प्रश्न पर ह्यूम ने बहुत विस्तार-पूर्वक विचार किया है। उनका मत है कि अनिवार्यता का यह प्रत्यय हमे किसी सवेदन सम्बन्धी सस्कार से प्राप्त नही हो सकता, क्योकि कारण और कार्य मानी जाने वाली वस्तुओ मे ऐसा कोई गुण नही है जिसके द्वारा हमे उनके अनिवार्य सम्बन्ध का ज्ञान हो सके। हम कारण और कार्य के सामीप्य तथा पौर्वापर्य को ही प्रत्यक्षत जान सकते हैं, किन्तु इस ज्ञान के आधार पर हम निश्चयपूर्वक यह नही

(14) वही पुस्तक, पृ० 77।

कह सकते कि उन दोनों में कोई अनिवार्य सम्बन्ध है । जब हम किन्ही दो वस्तुओं को प्रथम बार कारण और कार्य के रूप मे देखते हैं तो हमें इस इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के आधार पर उन दोनो मे अनिवार्य सम्बन्ध का ज्ञान नही होता—अर्थात् हम निश्चित रूप से यह नही कह सकते कि उनमें से एक विशेष वस्तु दूसरी विशेष वस्तु को सदैव और अनिवार्यत उत्पन्न करेगी । इस प्रकार ह्यूम के अनुसार इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा हम कारण और कार्य मे अनिवार्य सम्बन्ध का ज्ञान कभी प्राप्त नहीं कर सकते । क्या हम अनुचिंतन के किसी संस्कार से कारण और कार्य के अनिवार्य सम्बन्ध का प्रत्यय प्राप्त कर सकते हैं ? इस प्रश्न का भी ह्यूम ने नकारात्मक उत्तर ही दिया है । उनका मत है कि अनिवार्य सम्बन्ध के प्रत्यय को उत्पन्न करने वाला अनुचिंतन का कोई संस्कार हमारे मन मे नहीं है । 'हम केवल अनुभव से ही अपनी इच्छा-शक्ति के प्रभाव को जान सकते हैं, और अनुभव हमें यह बताता है कि एक घटना के पश्चात् दूसरी घटना किस प्रकार निरंतर घटित होती है । इन घटनाओं को अपृथकनीय बनाने वाले किसी अनिवार्य सम्बन्ध का हमे इस अनुभव द्वारा ज्ञान नही होता । इससे हम निश्चयपूर्वक यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अनिवार्य सम्बन्ध का प्रत्यय हमारे मन मे विद्यमान किसी भावना अथवा चेतना की अनुकृति नहीं है ।"[15] इस प्रकार ह्यूम के मतानुसार कारण तथा कार्य मे अनिवार्य सम्बन्ध का प्रत्यय न तो हमे किसी संवेदन सम्बन्धी संस्कार से प्राप्त हो सकता है और न अनुचिंतन सम्बन्धी संस्कार से ।

अब स्वभावत यह प्रश्न उठता है कि हमें कारण और कार्य मे अनिवार्य सम्बन्ध क्यो प्रतीत होता है । हम यह क्यो मानते हैं कि कोई विशेष कारण किसी विशेष कार्य को सदैव तथा अनिवार्यत उत्पन्न करता है और भविष्य में भी करेगा ? इस प्रश्न के उत्तर मे ह्यूम का कथन है कि केवल प्रथा अथवा आदत के कारण ही हम कारण और कार्य मे अनिवार्य सम्बन्ध का अनुभव करते हैं । जब हम किन्ही दो घटनाओं को बार-बार एक दूसरे के पश्चात घटित होते देखते है तो हमारा मन उन घटनाओं मे सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और इसी कारण उनमे से किसी एक घटना को घटित होते देखकर हम तुरन्त उससे सम्बद्ध दूसरी घटना की प्रत्याशा करने लगते हैं । उदाहरणार्थ अग्नि को छूने के पश्चात् हमने सदैव उष्णता का अनुभव किया है और बर्फ को छूने के पश्चात् शीतलता का । इस पूर्वानुभव के फल-स्वरूप हमारे मन मे अग्नि के साथ उष्णता का और बर्फ के साथ शीतलता का सम्बन्ध स्थापित हो गया है । यही कारण है कि हम जब भी अग्नि अथवा बर्फ को देखते हैं तो हम तुरन्त उष्णता अथवा शीतलता की आशा करने लगते हैं । वस्तुत पूर्वानुभव द्वारा उत्पन्न अपनी इस आदत के कारण ही हमे अग्नि और उष्णता मे

(15) 'ऐन ऐन्क्वायरी कन्सरनिंग ह्यूमन अण्डरस्टैंडिंग, चार्ल्स हेंडेल द्वारा सम्पादित पुस्तक 'ह्यूम—सलैक्शन्ज' मे संकलित, पृ० 150, 151 ।

निको द्वारा दिये गये तर्कों का खडन किया है। उपर्युक्त सिद्धान्त की सत्यता को प्रमाणित करने के लिए क्लार्क तथा कुछ अन्य दार्शनिको ने यह तर्क दिया है कि यदि बिना कारण के किसी वस्तु का अस्तित्व है तो यह स्वय अपना कारण होगी, किन्तु यह असम्भव है क्योकि इसका अर्थ यह है कि स्वय अपना कारण बनने के लिए यह वस्तु अस्तित्व मे आने से पहले ही प्रारम्भ हो चुकी थी। इसी प्रकार उक्त सिद्धान्त के समर्थन मे लॉक ने यह तर्क दिया है कि जो वस्तु बिना किसी कारण के उत्पन्न हुई है वह 'असत्' से उत्पन्न हुई होगी, किन्तु 'असत्' किसी वस्तु का कारण नही हो सकता। उपर्युक्त दोनो तर्कों के विरुद्ध ह्यूम की मुख्य आपत्ति यह है कि जिस सिद्धात को प्रमाणित करने के लिए ये तर्क दिये गये हैं उसकी सत्यता को ये पहले से ही स्वीकार कर लेते हैं—अर्थात् ये पहले से ही मान लेते हैं कि प्रत्येक वस्तु का कोई कारण होना अनिवार्य है। स्पष्ट है कि इन दोनो युक्तियो द्वारा कारण की अनिवार्यता का सिद्धान्त वास्तव मे प्रमाणित नही होता। इससे ह्यूम यही निष्कर्ष निकालते है कि कारणता सम्बन्धी हमारा विश्वास किसी युक्ति अथवा तर्क पर आधारित न होकर वस्तुत हमारी अनुभवजन्य आदत पर ही आधारित है। ऐसी स्थिति मे इस विश्वास को तर्कों द्वारा प्रमाणित करने का प्रयास व्यर्थ है। यहा यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ह्यूम का यह मत नही है कि कोई वस्तु अकारण ही उत्पन्न हो सकती है। उनका कथन केवल इतना ही है कि हम इन्द्रिय प्रत्यक्ष और तर्क द्वारा कारण की अनिवार्यता को प्रमाणित नही कर सकते। वे स्वय यह मानते हैं कि प्रत्येक वस्तु का कोई कारण अवश्य होता है। इस सम्बन्ध मे उन्होने स्पष्ट कहा है—"यह सर्वसम्मति से स्वीकार किया जाता है कि बिना कारण के किसी वस्तु का अस्तित्व नही हो सकता।"[17] इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु के लिए कारण की अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए ह्यूम ने अपने एक पत्र मे लिखा है कि "मैंने यह मूर्खतापूर्ण बात कभी नही कही कि कोई वस्तु बिना किसी कारण के उत्पन्न हो सकती है।"[18] इन उद्धरणो से स्पष्ट है कि व्यावहारिक दृष्टि से ह्यूम कारणता के सिद्धान्त मे पूर्णत विश्वास करते थे। परन्तु उनका यह निश्चित मत है कि सैद्धातिक दृष्टि से तर्क द्वारा किसी वस्तु के लिए कारण की अनिवार्यता को कभी प्रमाणित नही किया जा सकता।[19]

हमे देख चुके हैं कि ह्यूम कारण-कार्य सम्बन्ध को 'दार्शनिक सम्बन्ध' भी मानते हैं और 'प्राकृतिक सम्बन्ध' भी। यहाँ इन दोनो सम्बन्धो के अन्तर को कुछ और अधिक स्पष्ट कर देना आवश्यक है। जब भिन्न-भिन्न वस्तुओ मे कारण-कार्य सम्बन्ध होता है तो इसे ह्यूम 'दार्शनिक सम्बन्ध' कहते हैं। परन्तु जब विभिन्न प्रत्ययो मे कारण-कार्य सम्बन्ध द्वारा साहचर्य स्थापित होता है तो इसे वे 'प्राकृतिक

(17) 'ऐन ऐन्क्वायरी कन्सरनिंग ह्यूमन अण्डरस्टैंडिंग', पृ० 95।
(18) 'लैटर्ज', भाग-1, पत्र-सख्या 91।
(19) 'ए ट्रिटाइज आफ ह्यूमन नेचर', पृ० 79।

सम्बन्ध' की सज्ञा देते हैं । 'दार्शनिक सम्बन्ध' तथा 'प्राकृतिक सम्बन्ध' के रूप मे ह्यूम ने 'कारण' की दो भिन्न परिभाषाए दी हैं । 'दार्शनिक सम्बन्ध' के रूप मे 'कारण' की परिभाषा देते हुए उन्होने कहा है कि "कारण अपने कार्य से पूर्ववर्ती तथा उसके समीप होता है और कारण के सदृश सभी वस्तुओ तथा कार्य के सदृश सभी वस्तुओ मे पौर्वापर्य एव सामीप्य ये दोनो सम्बन्ध पाये जाते है ।"[20] 'प्राकृतिक सम्बन्ध' के रूप मे 'कारण' की परिभाषा देते हुए वे कहते हैं कि "कारण वह है जो अपने कार्य से पूर्ववर्ती तथा उसके समीप होता है और जो कार्य से इस प्रकार सम्बद्ध रहता है कि एक के फलस्वरूप हमारे मन मे दूसरे का प्रत्यय उत्पन्न होता है और एक का सस्कार दूसरे का सजीव प्रत्यय उत्पन्न करता है ।"[21] इस प्रकार स्पष्ट है कि ह्यूम के अनुसार दार्शनिक सम्बन्ध के रूप मे कारण-कार्य का पूर्ववर्ती, उसके समीप तथा उससे निरन्तर सम्बद्ध रहता है, परन्तु प्राकृतिक सम्बन्ध के रूप मे कारण-कार्य सम्बन्ध हमारे प्रत्ययो मे साहचर्य स्थापित करता है जिस पर हमारा कारण-कार्य सम्बन्धी सम्पूर्ण अनुमान आधारित है ।[22]

यहा इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि ह्यूम को अरस्तू द्वारा किया गया कारण' का वर्गीकरण मान्य नही है । अरस्तू ने 'कारण' के चार भेद माने हैं—निमित्त कारण, उपादान कारण, आकारिक कारण तथा प्रयोजन-कारण । ह्यूम इनमे से केवल निमित्त कारण को ही स्वीकार करते हैं । उनका मत है कि अरस्तू ने 'कारण' के जो अन्य तीन भेद माने हैं वे वास्तव मे 'कारण' नही हैं । किसी कार्य को उत्पन्न करने वाला कारण केवल एक ही प्रकार का हो सकता है और वह है निमित्त कारण । 'कारण' के विषय मे अपनी इस मान्यता को स्पष्ट करते हुए ह्यूम ने लिखा है कि "शक्ति अथवा उत्पादकता सम्बन्धी हमारा प्रत्यय किन्ही दो वस्तुओ के सतत सम्बन्ध के फलस्वरूप ही उत्पन्न होता है, अत जहा यह सतत सम्बन्ध पाया जाता है वहा केवल निमित्त कारण होता है और जहा यह सतत सम्बन्ध नही पाया जाता वहा किसी प्रकार का कारण नही हो सकता ।"[23] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ह्यूम 'कारण' के परम्परागत वर्गीकरण को स्वीकार नही करते ।

कारण-कार्य सम्बन्ध के विषय मे उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि यद्यपि ह्यूम इस सम्बन्ध को वस्तुगत न मान कर केवल आत्मगत ही मानते हैं, फिर भी वे इसे दार्शनिक दृष्टि से विशेष महत्त्व देते हैं । उनका मत है कि वस्तु-तथ्य सम्बन्धी हमारा सम्पूर्ण ज्ञान अतत इसी कारण-कार्य सम्बन्ध पर आधारित है । सभी विज्ञानो तथा मनुष्य के व्यवहारिक जीवन मे इस सम्बन्ध का अत्यधिक महत्व है । यही कारण है

(20) वही पुस्तक, पृ० 170 ।
(21) वही पुस्तक, पृ० 170 ।
(22) देखिये, वही पुस्तक, पृ० 94 ।
(23) वही पुस्तक, पृ० 171 ।

कि ह्यूम ने कारण-कार्य सम्बन्ध के सभी महत्वपूर्ण पक्षो पर बहुत विस्तारपूर्वक विचार किया है। परन्तु यहा यह उल्लेखनीय है कि कारण-काय सम्बन्ध के विषय मे उन्होने जो कुछ कहा है वह पूर्णत नवीन अथवा मौलिक नही है। इस विषय से सम्बन्धित उनके मुख्य सिद्धान्त का पूर्वाभास चौदहवी शताब्दी के एक दार्शनिक निकोलस के दर्शन मे प्राप्त होता है। वे यह मानते थे कि हम किसी वस्तु से किसी विशेष वस्तु के अस्तित्व का निश्चित रूप से अनुमान नही कर सकते, क्योकि सभी वस्तुए एक दूसरे से भिन्न है और इसी कारण तार्किक दृष्टि से कोई भी वस्तु किसी भी वस्तु को उत्पन्न कर सकती है। हमारे कारणता सम्बन्धी विश्वास की व्याख्या करते हुये निकोलस ने यह भी कहा है कि किन्ही दो घटनाओ को बार-बार एक दूसरे के पश्चात् घटित होते हुए देखते रहने के कारण ही हम अपने पूर्वानुभव के आधार पर एक को कारण तथा दूसरी को कार्य मान लेते हैं। इस प्रकार वे तर्क अथवा बुद्धि के स्थान पर हमारे पूर्वानुभव को ही कारण-कार्य सम्बन्ध का मूल आधार मानते हैं। हम देख चुके है कि ह्यूम ने भी कारण-कार्य सम्बन्ध की यही अनुभव मूलक व्याख्या की है। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि ह्यूम ने निकालस के दर्शन का अध्ययन करके उसी के आधार पर अपने कारण-कार्य सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। हम निश्चयपूर्वक यह भी नही कह सकते कि वे निकोलस के दर्शन से अवगत थे। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ह्यूम ने कारण-कार्य सम्बन्धी जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है उसे निकोलस लगभग चार सौ वर्ष पूर्व ही निरूपित कर चुके थे। परन्तु इससे दर्शन के इतिहास मे ह्यूम के सिद्धात का महत्व कम नही होता। जैसा कि हम पहले कह चुके है, आधुनिक अनुभववादी और तर्कीय प्रत्यक्षवादी ह्यूम के दर्शन को ही अपने दर्शन का मूल आधार मानते हैं, निकोलस के दर्शन को नही।

(8) विश्वास का स्वरूप

कारण-कार्य सम्बन्ध की भाति 'विश्वास' का भी ह्यूम के दर्शन मे विशेष महत्व है, अत यहा 'विश्वास' के स्वरूप तथा मानव-जीवन पर उसके प्रभाव के सम्बन्ध मे उनके मत का उल्लेख कर देना आवश्यक है। ह्यूम के विचार मे विश्वास हमारी वह मानसिक अवस्था है जो सादृश्य, सामीप्य तथा कारण-काय सम्बन्ध द्वारा स्थापित प्रत्ययो के साहचर्य के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। उन्होने किसी वस्तु के विषय मे हमारे स्पष्ट और सजीव प्रत्यय को ही 'विश्वास' की सज्ञा दी है। उन्ही के शब्दो मे, "विश्वास की ठीक-ठीक परिभाषा देते हुए हम यह कह सकते है कि वह हमारे किसी वर्तमान सस्कार से सम्बद्ध एक सजीव प्रत्यय है।"[24] ह्यूम का कथन है कि स्वय हमारा अनुभव विश्वास के इस स्वरूप की पुष्टि करता है। जब हम

(24) वही पुस्तक, पृ० 96।

दूसरे प्रकार की युक्तियों को प्राथमिकता देता हूँ तो अपनी भावना के आधार पर दूसरे प्रकार की युक्तियों के प्रभाव की उत्कृष्टता के विषय मे निर्णय करने के अतिरिक्त मैं और कुछ नही करता।"[25] इस प्रकार यद्यपि ह्यूम विश्वास और कल्पना मे अन्तर स्वीकार करते हैं फिर भी वे विश्वास को कल्पना के समान ही भावनात्मक मानते हैं, बौद्धिक नही। परन्तु विश्वास के सम्बन्ध मे उनकी इस मान्यता को स्वीकार करना बहुत कठिन है। इसका कारण यह है कि हमारे कुछ विश्वास तर्कपूर्ण तथा बौद्धिक होते हैं और उनके साथ हमारी भावनाओ का कोई सम्बन्ध नही होता। उदाहरणार्थ हम यह विश्वास करते हैं कि पृथ्वी गोल है, किन्तु हमारे इस विश्वास के साथ कोई भावना सम्बद्ध नही है। इसी प्रकार हमारा यह विश्वास भी किसी भावना से सम्बद्ध नही है कि चन्द्रमा पृथ्वी का उपग्रह है। इन दोनो विश्वासो को भावनात्मक न मान कर बौद्धिक मानना अधिक युक्तिसगत प्रतीत होता है। हमारे अन्य बहुत से वैज्ञानिक विश्वासो के विषय मे भी यही कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति मे ह्यूम का यह मत पूर्णत युक्तिसगत प्रतीत नही होता कि विश्वास बौद्धिक न होकर अनिवार्यत भावनाप्रधान ही होता है। यदि उनके मत को स्वीकार कर लिया जाय तो तर्कसगत बौद्धिक विश्वास तथा भावनापूर्ण अबौद्धिक विश्वास मे भेद करना असम्भव हो जायेगा। परन्तु सामान्यत इस तथ्य को स्वीकार किया जाता है कि किसी वैज्ञानिक सिद्धान्त के सम्बन्ध मे विज्ञानवेत्ता का विश्वास अधविश्वास से बहुत भिन्न होता है।

हम अपने मन से पृथक् एव स्वतन्त्र भौतिक वस्तुओ के निरतर अस्तित्व को इन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा तर्क द्वारा कभी प्रमाणित नही कर सकते । परन्तु इसके साथ ही वे यह भी मानते है कि भौतिक वस्तुओ के स्वतन्त्र और निरतर अस्तित्व मे विश्वास करना हमारे लिए अनिवार्य है । "हम यह तो पूछ सकते है कि कौन-से कारण भौतिक वस्तुओ के अस्तित्व मे विश्वास करने के लिए हमे प्रेरित करते है, किन्तु यह पूछना व्यर्थ है कि भौतिक वस्तुओ की सत्ता है अथवा नही । यह एक ऐसा तथ्य है जिसे सभी युक्तियो का आधार मानना हमारे लिए अनिवार्य है।"[28] सक्षेप मे ह्यूम के अनुसार प्रत्येक मनुष्य—चाहे वह सशयवादी दार्शनिक हो अथवा सामान्य व्यक्ति—के लिए यह मानना अनिवार्य है कि भौतिक वस्तुओ का उसके मन से पृथक् और स्वतन्त्र अस्तित्व है ।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि यदि हमारा सम्पूर्ण ज्ञान केवल अपने प्रत्यक्षो तक ही सीमित है तो हम भौतिक वस्तुओ की सत्ता मे विश्वास क्यो करते है । इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए ह्यूम ने इसे दो परस्पर सम्बद्ध प्रश्नो मे विभाजित किया है । प्रथम प्रश्न यह है कि यद्यपि भौतिक वस्तुए सदैव हमारी इन्द्रियो के समक्ष उपस्थित नही रहती फिर भी हम उनके सतत अस्तित्व मे विश्वास क्यो करते हैं ? दूसरा प्रश्न यह है कि हम भौतिक वस्तुओ का अपने मन और प्रत्यक्षो से पृथक् एव स्वतन्त्र अस्तित्व क्यो मानते है ? वस्तुत ये दोनो प्रश्न अन्योन्याश्रित हैं, क्योकि यदि इन्द्रियो द्वारा अनुभव न किये जाने पर भी वस्तुओ की निरतर सत्ता बनी रहती है तो इसका अर्थ यही है कि उनका हमारे प्रत्यक्षो से पृथक् तथा स्वतन्त्र अस्तित्व है । इसी प्रकार यदि वस्तुओ का हमारे प्रत्यक्षो से पृथक् एव स्वतन्त्र अस्तित्व है तो यह कहा जा सकता है कि इन्द्रियो द्वारा अनुभूत न होने पर भी उनका अस्तित्व निरतर बना रहता है । यही कारण है कि ह्यूम ने उपर्युक्त दोनो प्रश्नो पर अलग-अलग विचार न करके एक साथ विचार किया है ।

क्या इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा हमे वस्तुओ के स्वतन्त्र अस्तित्व का ज्ञान हो सकता है ? इस प्रश्न का ह्यूम ने स्पष्टत नकारात्मक उत्तर दिया है । उनका मत है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा हम केवल उतने समय तक ही किसी वस्तु की सत्ता का ज्ञान प्राप्त कर सकते है जितने समय तक वह हमारी इन्द्रियो के समक्ष उपस्थित रहती है, हम निश्चयपूर्वक यह नही कह सकते कि हमारी इन्द्रियो से ओझल हो जाने के पश्चात् भी उसका अस्तित्व निरतर बना रहता है । इन्द्रियो के समक्ष अनुपस्थित किसी भी वस्तु की सत्ता के विषय मे हम कुछ नही कह सकते । वस्तुओ की निरतर सत्ता की भाति उनके पृथक् एव स्वतन्त्र अस्तित्व का ज्ञान भी हमे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा नही हो सकता, क्योकि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा हम केवल उन सस्कारो तथा प्रत्ययो को ही जान सकते हैं जो हमारे मन मे उत्पन्न होते है । इस प्रकार इन्द्रिय-

(28) वही पुस्तक, पृ० 187।

प्रत्यक्ष हमे वस्तुओ के निरतर और स्वतन्त्र अस्तित्व का ज्ञान प्रदान करने मे असमर्थ है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की भाति युक्ति अथवा तर्क को भी ह्यूम वस्तुओ की निरतर और स्वतन्त्र सत्ता के ज्ञान का आधार नही मानते। उनके मतानुसार हम तर्क द्वारा न तो यह जान सकते हैं और न प्रमाणित कर सकते हैं कि वस्तुओ का निरतर तथा स्वतन्त्र अस्तित्व है। अपने इस मत के समर्थन मे वे कहते हैं कि यदि वस्तुओ की निरतर एव स्वतन्त्र सत्ता के ज्ञान के लिए तर्क की आवश्यकता होती तो बालको तथा अशिक्षित व्यक्तियो मे इस ज्ञान का अभाव होता। परन्तु तर्क करने मे असमर्थ होने पर भी बच्चे और अशिक्षित व्यक्ति वस्तुओ के सतत एव स्वतन्त्र अस्तित्व मे विश्वास करते है, अत इससे स्पष्ट है कि वस्तुओ के सतत और स्वतन्त्रत अस्तित्व सम्बन्धी ज्ञान के लिए युक्ति अथवा तर्क की कोई आवश्यकता नही है। ऐसी स्थिति मे हम तर्क द्वारा अपन इस विश्वास को सत्य सिद्ध नही कर सकते कि वस्तुओ का सतत और स्वतन्त्र अस्तित्व है। तर्क के समान अनुमान भी ह्यूम के विचार मे हमारे इस विश्वास का आधार नही हो सकता। हम अपने प्रत्यक्षो के ज्ञान के आधार पर यह अनुमान नही लगा सकते कि उनमे पृथक् और स्वतन्त्र भौतिक वस्तुओ का अस्तित्व है, क्योकि ऐसा अनुमान कारण-कार्यमूलक अनुमान ही हो सकता है और यह अनुमान तभी सम्भव है जब हम प्रत्यक्षो के साथ वस्तुओ के निरतर सम्बन्ध का बार-बार अनुभव कर सके। परन्तु हमारे लिए ऐसा करना सम्भव नही है, क्योकि हम अपने प्रत्यक्षो से बाहर जाकर उनके साथ वस्तुओ की तुलना नही कर सकते। इस प्रकार वस्तुओ की निरतर एव स्वतन्त्र सत्ता मे हम जो विश्वास करते हैं उसका आधार ह्यूम के मतानुसार न तो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष हो सकता है और न तर्क तथा अनुमान।

ऐसी स्थिति मे स्वभावत यह प्रश्न उठता है कि हमारे इस विश्वास का मूल कारण अथवा आधार क्या है—अर्थात् हम यह क्यो मान लेते हैं कि वास्तव मे वस्तुओ की निरतर और हमारे प्रत्यक्षो से पृथक् तथा स्वतन्त्र सत्ता है। इस प्रश्न के उत्तर मे ह्यूम का कथन है कि हमारा यह विश्वास वास्तव मे 'कल्पना' पर ही आधारित है। हमारी कल्पना सस्कारो के दो विशेष गुणो द्वारा वस्तुओ के निरतर और स्वतन्त्र अस्तित्व सम्बन्धी नैसर्गिक विश्वास को हमारे मन मे उत्पन्न करती है। ये दो गुण हैं 'स्थिरता' और 'सयुक्तता'। मूलत सभी सस्कार आतरिक तथा क्षणिक ही होते हैं, किन्तु कुछ सस्कारो मे उपर्युक्त दो विशेष गुण पाये जाते हैं जिनके कारण ये सस्कार हम 'बाह्य' और निरतर बने रहने वाले सस्कार प्रतीत होते हैं। ह्यूम के अनुसार 'स्थिरता' सस्कारो का वह गुण है जिसके कारण हमे वस्तुए स्थिर अथवा अपरिवर्तनशील प्रतीत होती हैं। हम अपने आस-पास जिन वृक्षो, मकानो, पर्वतो आदि को देखते है वे हमे सदैव स्थिर अथवा अपरिवर्तित ही प्रतीत होते हैं। इसका कारण इन वस्तुओ के सस्कारो मे विद्यमान 'स्थिरता' है जिसके फलस्वरूप ये वस्तुए सदा हमारे समक्ष अपरिवर्तित रूप मे आती हैं। कुछ वस्तुओ के सस्कारो मे पायी जाने वाली इस 'स्थिरता' के अर्थ को स्पष्ट करते हुए ह्यूम ने

लिखा है कि "वे पर्वत, मकान तथा वृक्ष जिन्हे मैं इस समय देख रहा हूँ मुझे सदा इसी रूप मे दिखाई देते रहे हैं, और जब मैं अपनी आखें बन्द कर लेने अथवा मुह फेर लेने के कारण उन्हे नही देख पाता तो पुन देखने पर वे मुझे बिना किसी परिवर्तन के उसी रूप मे दिखाई पड़ते हैं। मेरा बिस्तर, मेज, पुस्तकें तथा कागज मुझे एक ही रूप मे दिखाई देते हैं और यदि मैं उन्हे कुछ समय तक न देखू तो इससे उनमे कोई परिवर्तन नही होता। उन सभी सस्कारो के विषय मे भी यही कहा जा सकता है जिनसे सम्बन्धित वस्तुओ का हम वाह्य अथवा स्वतन्त्र अस्तित्व मानते हैं।"[29] इस प्रकार ह्यूम के विचार मे कुछ सस्कारो की इस स्थिरता के कारण हम बहुत सी वस्तुओ के स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना कर लेते है। परन्तु उनका कथन है कि सस्कारो की यह स्थिरता ही हमारी इस कल्पना के लिए पर्याप्त नही है। इसके अतिरिक्त सस्कारो का एक अन्य गुण भी हमे वस्तुओ की निरतर एव स्वतन्त्र सत्ता मे विश्वास करने के लिए प्रेरित करता है। इस गुण को ह्यूम ने 'सयुक्तता' की सज्ञा दी है। वे 'सयुक्तता' शब्द का प्रयोग 'एकरूपता' अथवा 'नियमितता' के अर्थ मे करते हैं। वे यह मानते है कि कालातर मे बहुत-सी वस्तुओ मे इतना अधिक परिवर्तन हो जाता है कि कुछ समय पश्चात् हम उन्हे उस रूप मे नही देख सकते जिस रूप मे हमने उन्हे पहले देखा था। परन्तु यह परिवर्तन अकस्मात् और अनियमित न होकर सदा समान रूप से तथा प्राकृतिक नियमो के अनुसार ही होता है। वस्तुओ के परिवर्तन की इसी एकरूपता और नियमितता को ह्यूम ने 'सयुक्तता' कहा है जो उनके विचार मे वस्तुओ की निरतर तथा स्वतन्त्र सत्ता मे विश्वास करने के लिए हमे प्रेरित करती है। एक उदाहरण द्वारा इस 'सयुक्तता' का अर्थ स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि "जब मैं एक घटे के पश्चात् अपने कमरे मे लौटता हूँ तो मै आग को उसी स्थिति मे नही पाता जिस स्थिति मे मैंने उसे छोडा था, किन्तु मैं इतने ही समय मे ठीक यही परिवर्तन इसी प्रकार के अन्य उदाहरणो मे भी देखने का अभ्यस्त हूँ और इस परिवर्तन पर मेरी उपस्थिति या अनुपस्थिति, निकटता अथवा दूरी का कोई प्रभाव नही पडता। इसलिए वस्तुओ के परिवर्तनो मे पायी जाने वाली यह सयुक्तता स्थिरता के समान ही उनकी विशेषता है।"[30] इस प्रकार ह्यूम के मतानुसार सस्कारो की स्थिरता और सयुक्तता के कारण हम वाह्य वस्तुओ के निरतर तथा स्वतन्त्र अस्तित्व की कल्पना करते हैं। वाह्य वस्तुओ का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने मे असमर्थ होते हुए भी सस्कारो की स्थिरता और सयुक्तता के कारण हम यह मान लेते हैं कि उनका निरतर एव स्वतन्त्र अस्तित्व है।

ह्यूम का मत है कि वाह्य वस्तुओ की निरतर तथा स्वतन्त्र सत्ता मे हमारा

(29) वही पुस्तक, पृ० 194।
(30) वही पुस्तक, पृ० 195।

यह विश्वास स्मृति द्वारा और अधिक पुष्ट होता है । स्मृति के कारण ही हम भिन्न-भिन्न समय पर अनुभव किये गये प्रत्यक्षो मे विद्यमान सादृश्य का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जो वस्तुओ के स्वतन्त्र और सतत अस्तित्व सम्बन्धी हमारे विश्वास के लिए अनिवार्य है । यदि हमारे मन मे पूर्वानुभूत प्रत्यक्षो की स्मृति न हो तो अपने समक्ष उपस्थित किसी भी वस्तु के विषय मे हम यह नही कह सकते कि यह वही वस्तु है जिसका हमने पहले अनुभव किया था । भिन्न-भिन्न समय अनुभव किये जाने के कारण हमारे सभी प्रत्यक्ष मूलत व्यवधानयुक्त होते हैं, किन्तु इनमे पाये जाने वाले सादृश्य के फलस्वरूप हम इन्हे व्यवधानरहित तथा एक ही प्रकार के प्रत्यक्ष मान लेते हैं । हम अपनी स्मृति के कारण ही इन व्यवधानयुक्त प्रत्यक्षो के सादृश्य को अनुभव कर सकते है जिसके बिना किसी भी वस्तु के स्वतन्त्र और निरतर अस्तित्व मे विश्वास करना हमारे लिए सम्भव नही है । इस प्रकार स्पष्ट है कि ह्यूम के अनुसार कल्पना के साथ-साथ स्मृति भी हमारे मन मे वस्तुओ की सतत और स्वतन्त्र सत्ता सम्बन्धी विश्वास को उत्पन्न तथा पुष्ट करती है ।

परन्तु, जैसा कि हम पहले कह चुके है, ह्यूम के विचार मे हमारे इस विश्वास का कोई बौद्धिक आधार नही है, क्योंकि इसे हम किसी प्रकार के तर्क द्वारा सत्य प्रमाणित नही कर सकते । यदि हम युक्ति अथवा तर्क के आधार पर अपने इस विश्वास की जाच करें तो यह मिथ्या प्रमाणित होता है । हमारी बुद्धि हमे यह बताती है कि हमारे सभी प्रत्यक्ष पूर्णत हमारे मन पर ही निर्भर है और उनका हमारे मन से पृथक् तथा स्वतन्त्र अस्तित्व नही हो सकता । हमारे द्वारा अलग-अलग अनुभव किये जाने के कारण इन प्रत्यक्षो का व्यवधानरहित अथवा निरन्तर अस्तित्व भी सम्भव नही है । ऐसी स्थिति मे प्रत्यक्षो को वस्तुओ से भिन्न मानना अनिवार्य हो जाता है । प्रत्यक्ष अनिवार्यत आन्तरिक, क्षणिक तथा व्यवधानयुक्त है जबकि वस्तुए बाह्य, स्थायी और निरन्तर अस्तित्व मे बनी रहने वाली मानी जाती हैं । हम केवल अपने प्रत्यक्षो को ही जानते हैं, अत तार्किक आधार पर बाह्य वस्तुओ के अस्तित्व के विषय मे हम कुछ भी नही कह सकते । ह्यूम इस सम्भावना को अस्वीकार नही करते कि हमारे प्रत्यक्षो से पृथक् और स्वतन्त्र वस्तुओ की सत्ता है, किन्तु उनका यह निश्चित मत है कि अपने प्रत्यक्षों तक ही सीमित होने के कारण हम बाह्य वस्तुओ को कभी नही जान सकते । इसी कारण वे यह मानते है कि बुद्धि अथवा तर्क द्वारा इन वस्तुओ के निरन्तर और स्वतन्त्र अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास पूणत व्यर्थ है ।

परन्तु इसके साथ ही ह्यूम यह भी कहते है कि कोई भी व्यक्ति बाह्य वस्तुओ के निरन्तर और स्वतन्त्र अस्तित्व मे विश्वास किये बिना नही रह सकता । यह मनुष्य का नैसर्गिक विश्वास है जिसका परित्याग करना उसके लिए सम्भव नही है । यही कारण है कि सभी मनुष्य—चाहे वे साधारण व्यक्ति हो अथवा महान् दार्शनिक—बाह्य वस्तुओ के सतत् एव स्वतन्त्र अस्तित्व मे विश्वास करते है और अपने

व्यावहारिक जीवन मे इसी विश्वास के अनुरूप आचरण करते हैं। हम सब के मन मे यह नैसर्गिक विश्वास इतना अधिक दृढ हो चुका है कि अधिकतम प्रयास करने पर भी हम इसका निराकरण नही कर सकते। ह्यूम ने स्पष्ट कहा है कि हमे प्रकृति ने इस विश्वास को स्वीकार करने या न करने की स्वतन्त्रता नही दी — अर्थात् हम इस नैसर्गिक विश्वास को स्वीकार करने के लिए बाध्य हैं।[31] सशयवादी दार्शनिक सैद्धातिक दृष्टि से बाह्य वस्तुओ के अस्तित्व मे सदेह कर सकता है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वह भी इन वस्तुओ की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करने के लिए बाध्य हो जाता है। सक्षेप मे ह्यूम के मतानुसार यद्यपि हम बाह्य वस्तुओ के निरन्तर तथा स्वतन्त्र अस्तित्व सम्बन्धी अपने विश्वास को इन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनुमान एव तर्क द्वारा प्रमाणित नही कर सकते, फिर भी यह हमारा नैसर्गिक विश्वास है जो कल्पना तथा स्मृति के फलस्वरूप हमारे मन मे उत्पन्न होता है और जिसे स्वीकार करने के लिए हम सब प्रकृति द्वारा बाध्य हैं।

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास मे बाह्य वस्तुओ के अस्तित्व से सम्बन्धित ह्यूम के उपर्युक्त सिद्धान्त का बहुत महत्व है। यह सिद्धान्त उनके दर्शन को अन्य दो अनुभववादी दार्शनिको, लॉक तथा बर्कले, के दर्शन से पृथक् करता है। लॉक बाह्य वस्तुओ को यथार्थ मानकर हमारे प्रत्ययो को उनकी अनुकृतिया मानते थे, किन्तु वे इस महत्वपूर्ण प्रश्न का सतोषजनक उत्तर नही दे सके कि जब हम इन वस्तुओ को प्रत्यक्षत नही जानते तो हम निश्चयपूर्वक यह कैसे कह सकते हैं कि हमारे प्रत्यय उनकी अनुकृतिया हैं। मुख्यत इसी दार्शनिक कठिनाई को ध्यान मे रखते हुए बर्कले ने बाह्य वस्तुओ का अस्तित्व अस्वीकार किया और यह कहा कि हम केवल अपने प्रत्ययो को ही जानते हैं, अत हमारे लिए इन प्रत्ययो का ही अस्तित्व है। इसी आधार पर उन्होने लॉक द्वारा मान्य गौण तथा प्राथमिक गुणो के भेद को अस्वीकार करते हुए भी सभी गुणो को समान रूप से आत्मगत माना। लॉक के दर्शन की बर्कले द्वारा की गई यह आलोचना ह्यूम को भी मान्य है। जैसा कि हम देख चुके हैं, ह्यूम भी यह मानते है कि हमारा सम्पूर्ण ज्ञान केवल अपने प्रत्यक्षो तक ही सीमित है, अत हम इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा तर्क के आधार पर यह नही जान सकते कि बाह्य वस्तुओ का अस्तित्व है। इसके अतिरिक्त लॉक द्वारा मान्य गुणो के वर्गीकरण को अस्वीकार करते हुए वे भी समस्त गुणो को समान रूप से आत्मगत ही मानते हैं। परन्तु बाह्य वस्तुओ के अस्तित्व की व्याख्या करने के लिए बर्कले ने ईश्वर की जो कल्पना की है उसे ह्यूम स्वीकार नही करते, क्योकि उनके मतानुसार हमारे मन मे ईश्वर का कोई प्रत्यय नही है और इसी कारण हम उसकी सत्ता के सम्बन्ध मे कुछ भी नही कह सकते। इस प्रकार बर्कले के अनुभववाद को उसकी तार्किक चरम सीमा तक ले जाते हुए वे कहते हैं कि वास्तव मे हमारे

(31) देखिये, वही पुस्तक, पृ० 183, 187।

लिए वाह्य वस्तुओ को जानना असम्भव है, अत हम स्मृति और कल्पना के फलस्वरूप उत्पन्न अपने नैसर्गिक विश्वास के आधार पर ही उनके निरन्तर तथा स्वतन्त्र अस्तित्व की व्याख्या कर सकते हैं ।

(10) देश-काल सम्बन्धी प्रत्यय

जैसा कि हम देख चुके है, ह्यूम के दर्शन का यह मूल सिद्धात है कि प्रत्येक प्रत्यय अनिवार्यत. किसी सस्कार से ही उत्पन्न होता है । ऐसी स्थिति मे स्वभावत यह प्रश्न उठता है कि देश-काल सम्बन्धी हमारे प्रत्यय किन सस्कारो से उत्पन्न होते हैं । इस प्रश्न के उत्तर मे ह्यूम का कथन है कि हमारे मन में इन प्रत्ययो को उत्पन्न करने वाले कोई विशेष सस्कार नही है । वे देश तथा काल के प्रत्ययो को ऐसे जटिल प्रत्यय मानते हैं जो किसी प्रकार के विशेष सरल सस्कारो से उत्पन्न नही होते । इन प्रत्ययो का ज्ञान हमे साहचर्य के सिद्धान्तो से भी नही हो सकता, क्योंकि स्वय साहचर्य के सिद्धात अतत इन्ही प्रत्ययो पर आधारित है । इस प्रकार ह्यूम के अनुसार देश-काल सम्बन्धी प्रत्यय अन्य सभी प्रत्ययो से भिन्न प्रकार के हैं । इन प्रत्ययो के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि "देश तथा काल के प्रत्ययो का सम्बन्ध उस ढग अथवा क्रम से है जिसमे वस्तुए हमारे समक्ष उपस्थित होती हैं, दूसरे शब्दो मे, हमारे लिए पुद्गल के बिना रिक्तता एव विस्तार को और वस्तुओ के क्रमिक परिवर्तन अथवा पौर्वापर्य के बिना समय को समझना सम्भव नही है ।"[32] वस्तुत ह्यूम का मत है कि देश-काल सम्बन्धी प्रत्ययो को वस्तुओ तथा घटनाओ के सदर्भ मे ही समझा जा सकता है, उनसे पृथक् नही । हम किसी वस्तु अथवा घटना को दृष्टि मे रखकर ही 'निकट-दूर' 'दायें-बायें', 'आगे-पीछे', 'ऊपर-नीचे', 'पूर्व-पश्चात्' आदि शब्दो द्वारा देश तथा काल के प्रत्ययो की ओर सकेत कर सकते है । वस्तुओ और घटनाओ से पृथक् इन प्रत्ययो का हमारे लिए कोई अर्थ नही हो सकता । इस प्रकार ह्यूम के विचार मे देश-काल सम्बन्धी प्रत्यय वस्तुओ तथा घटनाओ से अनिवार्यत सम्बद्ध हैं ।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि हमे देश-काल सम्बन्धी प्रत्ययो का ज्ञान किस प्रकार होता है । इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए ह्यूम ने देश तथा काल के प्रत्ययो का पृथक्-पृथक् विवेचन किया है । उनका कथन है कि देश अथवा स्थान से सम्बन्धित समस्त प्रत्ययो का ज्ञान हम दृष्टि तथा स्पर्श द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं, किसी अन्य इन्द्रिय के माध्यम से नही । जिन वस्तुओ को हम देख और छू सकते है उन्ही के माध्यम से हमे निकट, दूर, दायें, बायें, आगे, पीछे, ऊपर, नीचे आदि देश सम्बन्धी प्रत्ययो का ज्ञान होता है । विस्तार के प्रत्यय का ज्ञान भी हमे दृष्टि तथा स्पर्श के फलस्वरूप ही होता है । ह्यूम के शब्दो मे, "विस्तारयुक्त ऐसी कोई वस्तु

(32) वही पुस्तक, पृ० 80 ।

नही है जिसे देखा अथवा छुआ न जा सके। जब तक हम किसी वस्तु को दृष्टि अथवा स्पर्श का विषय नही बना लेते तब तक हमारे मन मे देश या विस्तार का प्रत्यय उत्पन्न नही हो सकता।"[33] ह्यूम का मत है कि विस्तार सम्बन्धी प्रत्यय को बहुत-से भागो मे विभाजित किया जा सकता है और ये सभी भाग अनिवार्यत एक दूसरे के सहवर्ती होते हैं। वस्तुत विस्तार सम्बन्धी प्रत्यय के सभी भागो का अनिवार्यत सहवर्ती होना उसे काल सम्बन्धी प्रत्यय से पृथक् करता है जिसके भाग सहवर्ती न होकर केवल पौर्वापर्य के क्रम मे ही होते है। इसके अतिरिक्त देश सम्बन्धी प्रत्यय के अन्तर्गत केवल दृष्टि तथा स्पर्श के प्रत्यक्ष ही आते हैं जबकि काल सम्बन्धी प्रत्यय मे सभी प्रकार के प्रत्यक्षो का समावेश होता है। सक्षेप मे विस्तार से सम्बन्धित समस्त प्रत्यक्षो का आधार देश अथवा स्थान सम्बन्धी प्रत्यय है जिसका ज्ञान हमे दृष्टि और स्पर्श के माध्यम से होता है।

ह्यूम ने काल के प्रत्यय की जो व्याख्या की है वह देश के प्रत्यय की व्याख्या से कुछ भिन्न है। उनका कथन है कि प्रत्यक्षो का एक दूसरे के पश्चात् क्रमिक अनुभव काल के प्रत्यय का अनिवार्य गुण है। देश सम्बन्धी प्रत्यय की भाति काल के प्रत्यय को भी अनेक भागो अथवा क्षणो मे विभाजित किया जा सकता है, किन्तु काल के प्रत्यय के सभी भाग सहवर्ती न होकर एक दूसरे से पृथक् और एक दूसरे के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती ही होते हैं। दूसरे शब्दो मे, हम समय के भिन्न-भिन्न क्षणो का अनुभव एक साथ न करके अनिवार्यत एक दूसरे के पश्चात् ही करते हैं। "जिस प्रकार हम दृश्य तथा स्पृश्य वस्तुओ के अनुभव के कारण देश सम्बन्धी प्रत्यय का ज्ञान प्राप्त करते हैं उसी प्रकार प्रत्ययो तथा सस्कारो के क्रमिक अनुभव के फलस्वरूप हमे काल के प्रत्यय का ज्ञान होता है। इन प्रत्यक्षो के क्रमिक अनुभव के बिना हमारे मन मे काल सम्बन्धी प्रत्यय उत्पन्न नही हो सकता।"[34] इस प्रकार ह्यूम के मतानुसार प्रत्यक्षो का पौर्वापर्य क्रम मे अनुभूत होना ही काल सम्बन्धी प्रत्यय के ज्ञान का मूल आधार है। यही कारण है कि काल सम्बन्धी प्रत्यय के ज्ञान पर प्रत्यक्षो का अनुभव करने वाले व्यक्ति की मानसिक अवस्था का बहुत प्रभाव पडता है। जब कोई व्यक्ति गहन निद्रा मे अथवा अत्यधिक विचार-मग्न होता है तो उसे पता ही नही चलता कि कितना समय व्यतीत हो गया है। इसी प्रकार अपनी मानसिक अवस्थानुसार व्यक्ति को एक ही कालावधि कभी बहुत कम और कभी बहुत लम्बी प्रतीत होती है। प्रेमी जब अपनी प्रेयसी के साथ होता है तो कई घण्टे भी उसे बहुत कम मालूम होते हैं, किन्तु जब वह उसकी प्रतीक्षा कर रहा होता है तो कुछ मिनट भी उसे बहुत लम्बे प्रतीत होते है। इस प्रकार ह्यूम के विचार मे काल सम्बन्धी प्रत्यय हमारे प्रत्यक्षो के क्रमिक अनुभव पर ही पूर्णत निर्भर है, अत इस अनुभव के अभाव मे हमारे लिये काल के प्रत्यय का ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नही है।

(33) वही पुस्तक, पृ० 38, 39।
(34) वही पुस्तक, पृ० 35।

वस्तुत ह्यूम प्रत्यक्षो के क्रमिक अनुभव से पृथक् और स्वतन्त्र काल के प्रत्यय का अस्तित्व स्वीकार नही करते । उनका कथन है कि "काल सम्बन्धी प्रत्यय हमारे मन मे अकेला अथवा किसी अपरिवर्तनशील वस्तु के फलस्वरूप उत्पन्न न होकर परिवर्तनशील वस्तुओ के क्रमिक अनुभव के परिणामस्वरूप ही उत्पन्न होता है । यह निश्चित है कि 'काल' की रचना पृथक्-पृथक् भागो द्वारा ही होती है, अन्यथा हम लम्बी अथवा छोटी अवधि का अनुभव न कर सकते । यह भी स्पष्ट है कि ये भाग सहवर्ती नही होते, क्योकि भागो के सहवर्ती होने का गुण केवल विस्तार के प्रत्यय मे ही पाया जाता है जो उसे काल के प्रत्यय से पृथक् करता है । अनिवार्यत सहवर्ती भागो द्वारा निर्मित होने के कारण कोई भी अपरिवर्तनशील वस्तु हमारे मन मे काल सम्बन्धी प्रत्यय उत्पन्न नही कर सकती, अत यह प्रत्यय हमारे मन मे परिवर्तनशील वस्तुओ के क्रमिक अनुभव के फलस्वरूप ही उत्पन्न होता है और हमारे इस क्रमिक अनुभव से इस प्रत्यय को कभी पृथक् नही किया जा सकता ।"[35] इस प्रकार स्पष्ट है कि ह्यूम काल सम्बन्धी प्रत्यय को पौर्वापर्य के क्रम मे अनुभूत प्रत्यक्षो से पृथक् और स्वतन्त्र नही मानते । उन्होने स्पष्ट कहा है कि काल का प्रत्यय किसी एक विशेष सस्कार अथवा अनेक विशेष सस्कारो से उत्पन्न न होकर इन सस्कारो के क्रमिक अनुभव के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है और इन सस्कारो से पृथक् उसका कोई अस्तित्व नही है ।[36] अपने इस मत को स्पष्ट करने के लिए उन्होने निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है—"बाँसुरी पर क्रमश बजाये गये पाच स्वर हमारे मन मे काल का सस्कार तथा प्रत्यय उत्पन्न करते है, किन्तु श्रवण अथवा किसी अन्य इन्द्रिय द्वारा हमारे मन मे उत्पन्न होने वाला काल छठा सस्कार नही है । अन्तर्निरीक्षण द्वारा भी हमारा मन छठे सस्कार के रूप मे काल का अनुभव नही करता । काल का प्रत्यय किसी स्थिर अथवा अपरिवर्तनशील वस्तु के अनुभव से उत्पन्न न होकर सदैव केवल परिवर्तनशील वस्तुओ के क्रमिक अनुभव से ही उत्पन्न होता है ।"[37] सक्षेप मे ह्यूम के मतानुसार काल सम्बन्धी प्रत्यय हमारे प्रत्यक्षो के क्रमिक अनुभव का ही अनिवार्य परिणाम है, अत इस क्रमिक अनुभव से पृथक् और स्वतन्त्र उसका अस्तित्व नही है ।

(11) ज्ञान और प्रायिकता

हम पाचवें खण्ड मे देख चुके हैं कि ह्यूम सात दार्शनिक सम्बन्धो मे से सादृश्य, वैपरीत्य, गुण के तारतम्य तथा सख्या एव मात्रा के अनुपात को अपरिवर्तनीय सम्बन्ध और अभेद, देश-काल तथा कारण-कार्य को परिवर्तनीय सम्बन्ध मानते है

(35) वही पुस्तक, पृ० 36 ।
(36) देखिये, वही पुस्तक, पृ० 36 ।
(37) वही पुस्तक, पृ० 36, 37

हम इन सभी सम्बन्धो के स्वरूप का विवेचन पहले ही कर चुके हैं। यहा इनका उल्लेख ह्यूम द्वारा कृत 'ज्ञान' की व्याख्या को स्पष्ट करने के लिए ही किया जा रहा है। उनके विचार मे, केवल प्रथम चार सम्बन्ध, जो पूर्णत हमारे प्रत्ययो पर निर्भर रहते हैं, हमारे ज्ञान का विषय तथा आधार हो सकते है। इन्ही चार सम्बन्धो के फलस्वरूप हम वस्तुओ तथा घटनाओ का सुनिश्चित एव ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। हम अपने इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा इन चारो सम्बन्धो को तुरन्त जान लेते हैं—अर्थात् इन्हे समझने के लिए हमे विशेष प्रयास अथवा किसी अन्य वस्तु के माध्यम की आवश्यकता नही होती। जब किन्ही दो वस्तुओ मे सादृश्य पाया जाता है तो हम उन वस्तुओ को देखते ही उस सादृश्य को जान लेते हैं और इसके लिए हमे किसी अन्य उपाय द्वारा उन वस्तुओ की जाच नही करनी पडती। इसी प्रकार किसी वस्तु के अस्तित्व और अनास्तित्व के वैपरीत्य को भी हम अनायास ही जान लेते हैं। गुणो के तारतम्य के विषय मे भी यही कहा जा सकता है। यहा ह्यूम यह स्वीकार करते है कि जब रग, स्वाद, शीत, उष्ण आदि गुणो के तारतम्य मे बहुत थोडा अन्तर होता है तो हमारे लिए इस अन्तर को तुरन्त ठीक-ठीक जान सकना असम्भव है, किन्तु उनका कथन है कि जब यह अन्तर पर्याप्त होता है तो हम किसी प्रकार की जाच किये बिना ही तुरन्त इसे जान लेते हैं। उदाहरणार्थ यदि दो खाद्य वस्तुओ मे से एक कडवी तथा दूसरी मीठी है तो हम इन्हे मुँह मे डालते ही इनके अन्तर को अनायास ही समझ लेते है। वस्तुओ की सख्या तथा मात्रा के अनुपात मे पाये जाने वाले अन्तर की व्याख्या भी ह्यूम ने ठीक इसी प्रकार की है। उनका कथन है कि जब वस्तुओ की मात्रा अथवा सख्या के अनुपात मे पर्याप्त अन्तर होता है तो हम इसे बिना किसी प्रयास के तुरन्त जान लेते हैं, किन्तु इनके अनुपात मे बहुत कम अन्तर को तुरन्त ठीक-ठीक जानना हमारे लिए सम्भव नही है। सक्षेप मे उपर्युक्त चार दार्शनिक सम्बन्धो के फलस्वरूप प्राप्त ज्ञान को ह्यूम इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा अनायास प्राप्त ज्ञान मानते हैं जिसके लिये किसी प्रकार की तकना अथवा जाच की आवश्यकता नही होती।

ज्ञान-प्राप्ति की दृष्टि से अन्य तीन दार्शनिक सम्बन्धो की व्याख्या ह्यूम ने कुछ भिन्न प्रकार से की है। उनके अनुसार अभेद, देश-काल-सम्बन्ध तथा कारण-कार्य सम्बन्ध प्रत्ययो पर निर्भर न होने के कारण परिवर्तनीय सम्बन्ध है। अभेद तथा देश-काल-सम्बन्ध के फलस्वरूप किसी प्रकार की तर्कना सम्भव नही है, क्योकि इन दोनो सम्बन्धो द्वारा हमारा मन इन्द्रियो के समक्ष उपस्थित वस्तुओ से आगे नही जा पाता। इन सम्बन्धो की सहायता से हम नयी वस्तुओ और उनके पारस्परिक सम्बन्ध की खोज नही कर सकते। अभेद का सम्बन्ध किन्ही विशेष वस्तुओ पर लागू न होकर सभी वस्तुओ पर समान रूप से लागू होता है, क्योकि प्रत्येक वस्तु के विषय मे हम यह कह सकते हैं कि यह वही वस्तु है। परन्तु इससे हमे अन्य वस्तुओ तथा उनके सम्बन्ध का ज्ञान नही होता। ज्ञान प्राप्ति की दृष्टि से देश-काल-सम्बन्ध की

भी यही स्थिति है। इस सम्बन्ध द्वारा हमें वस्तुओ की विभिन्न स्थितियो तथा उनके पौर्वापर्य क्रम का ही ज्ञान होता है, उनके स्वरूप का नही। परन्तु देश-काल सम्बन्ध तथा पूर्ववर्णित चार अपरिवर्तनीय दार्शनिक सम्बन्धो मे एक महत्त्वपूर्ण समानता यह है कि इन दार्शनिक सम्बन्धो की भांति देश-काल के सम्बन्ध को भी हम किसी अन्य वस्तु के माध्यम के बिना अनायास ही तुरन्त जान लेते है। ह्यूम का मत है कि ज्ञान-प्राप्ति की दृष्टि से कारण-कार्य सम्बन्ध की स्थिति अभेद तथा देश-काल के सम्बन्धो से भिन्न है। कारण-कार्य सम्बन्ध के फलस्वरूप हम ऐसी वस्तुओ का भी ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जो हमारी इन्द्रियो के समक्ष उपस्थित नही है। हम किसी एक वस्तु को देखकर कारण अथवा कार्य के रूप मे उससे सम्बद्ध दूसरी अनुपस्थित वस्तु को भी जान लेते हैं। कारण-कार्य सम्बन्ध की इसी महत्त्वपूर्ण विशेषता को स्पष्ट करते हुये ह्यूम ने लिखा है कि "अपने प्रत्ययो पर निर्भर न रहने वाले तीनो सम्बन्धो मे से केवल कारण-कार्य सम्बन्ध ही ऐसा सम्बन्ध है जो हमारे मन को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से आगे ले जाता है और हमे ऐसी वस्तुओ के अस्तित्व के विषय मे सूचित करता है जिन्हे हम देख तथा छू नही सकते।"[38] कारण-कार्य सम्बन्ध द्वारा इन्द्रिया के समक्ष अनुपस्थित वस्तुओ का ज्ञान हम किस प्रकार प्राप्त करते हैं इस प्रश्न पर हम पहले ही विस्तारपूर्वक विचार कर चुके है, अत यहा इतना कह देना ही पर्याप्त है कि यह सम्बन्ध हमारे वस्तु-तथ्य सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान का अनिवार्य आधार है।

अब इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि ह्यूम के अनुसार 'प्रायिकता' का अर्थ एव स्वरूप क्या है और वह 'ज्ञान' तथा 'प्रमाण' से किस प्रकार भिन्न है। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए उन्होने ज्ञान, प्रमाण तथा प्रायिकता की निम्नलिखित परिभाषा दी है—"ज्ञान से मेरा तात्पर्य उस आश्वासन से है जो प्रत्ययो की तुलना के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। प्रमाण कारण-कार्य सम्बन्ध से उत्पन्न वे तर्क हैं जो सदेह तथा अनिश्चितता से पूर्णतया मुक्त होते हैं। प्रायिकता वह प्रमाण है जिसमे कुछ अनिश्चितता विद्यमान रहती है—अर्थात् जो पूर्णत सदेह-मुक्त नही होता।"[39] इस परिभाषा से स्पष्ट है कि ह्यूम के विचार मे ज्ञान तथा प्रमाण के विपरीत प्रायिकता कुछ अनिश्चित और सन्दिग्ध होती है। प्रायिकता के आधार पर हम जो ज्ञान प्राप्त करते हैं वह पूर्णत सत्य एव निश्चित न होकर केवल कुछ सीमा तक ही विश्वसनीय होता है। इसी कारण ह्यूम ने प्रायिकता को 'अनुमान पर आधारित तर्क' की सज्ञा दी है। उनका मत है कि वस्तु-तथ्य सम्बन्धी हमारा सम्पूर्ण ज्ञान निश्चित एव असदिग्ध न होकर केवल प्रायिक ही है।

प्रायिकता को ह्यूम ने 'सयोगमूलक प्रायिकता' और 'कारणमूलक प्रायिकता' इन दो वर्गों मे विभाजित किया है। सयोगमूलक प्रायिकता किसी एक सयोग अथवा अनेक सयोगो पर ही आधारित होती है, उसके लिए हम किसी प्रकार का कारण

(38) वही पुस्तक, पृ० 74।
(39) वही पुस्तक, पृ० 124।

प्रस्तुत नही कर सकते । 'सयोग' का अर्थ स्पष्ट करते हुए ह्यूम ने कहा है कि "अपने आप मे सयोग की कोई वास्तविक सत्ता नही है । वास्तव मे कारण का निषेध ही सयोग है जिसका प्रभाव हमारे मन पर कारण के ठीक विपरीत होता है ।

सयोग की प्रभावशीलता के विषय मे हम पूर्णत उदासीन रहते हैं, अत कोई एक सयोग दूसरे सयोग की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण नही होता ।"[40] इस प्रकार ह्यूम के विचार मे प्रभाव की दृष्टि से सभी सयोग पूणतया समान होते हैं। उदाहरणार्थ यदि हम एक चौकोर गोटी पर चार भिन्न-भिन्न अक लिखकर उसे धरती पर गिरायें तो उन अको मे से कोई भी अक ऊपर या नीचे आ सकता है— अर्थात् सयोग की दृष्टि से इन सभी अको की स्थिति पूर्णत समान है। यही बात उन सभी घटनाओ के घटित होने की प्रायिकता के विषय मे भी कही जा सकती है जिनके कारणो से हम नितान्त अनभिज्ञ है । इस प्रकार हम जिन घटनाओ के कारणो को नही जानते उनके सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान केवल सयोगमूलक प्रायिकता पर ही आधारित होता है, अत हम उनके विषय मे निश्चयपूर्वक कुछ भी नही कह सकते । परन्तु कुछ स्थितियो मे हम सयोगमूलक प्रायिकता के आधार पर भी घटनाओ के एक विशेष रूप मे घटित होने का कुछ अनुमान लगा सकते हैं। उदाहरणार्थ यदि किसी चौकोर गोटी के तीन भाग सफेद तथा एक भाग काला है तो उसे धरती पर गिरते समय हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि उसके काले भाग की अपेक्षा सफेद भाग के ऊपर आने की अधिक सम्भावना है । स्पष्ट है कि हमारे इस अनुमान का एकमात्र आधार उस गोटी के सफेद भागो की अधिक सख्या ही है । परन्तु इस स्थिति मे भी हम निश्चयपूर्वक नही कह सकते कि धरती पर गिराने से उस गोटी का सफेद भाग ही ऊपर आयेगा, क्योकि उसके काले भाग के ऊपर आने की सम्भावना भी विद्यमान है । सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि पूर्णत सयोग पर आधारित होने के कारण सयोगमूलक प्रायिकता मे निश्चयात्मकता का अभाव रहता है ।

ह्यूम का मत है कि सयोगमूलक प्रायिकता के विपरीत कारणमलक प्रायिकता मे पर्याप्त सीमा तक निश्चयात्मकता पायी जाती है । जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, यह प्रायिकता मूलत कारण-कार्य सम्बन्ध पर ही आधारित होती है । यदि हम किन्ही दो घटनाओ को कारण तथा कार्य के रूप मे सम्बद्ध देखते रहे है तो हम उनमे से किसी एक घटना को देखकर दूसरी घटना का अनुमान ही नही लगाते, अपितु हम यह भी मान लते है कि भविष्य मे भी वे दोनो घटनाए सदैव कारण और कार्य के रूप मे सम्बद्ध रहेगी । भूतकाल मे हम जितनी अधिक वार किन्ही दो घटनाओ को कारण और काय के रूप मे सम्बद्ध देखते है भविष्य मे उनके कारण-कार्य के रूप मे सम्बद्ध होने का हमारा विश्वास उतना ही अधिक पुष्ट होता है ।

(40) वही पुस्तक पृ० 125 ।

उदाहरणार्थ भूतकाल मे हमने सदैव बर्फ को गरमी से पिघलते देखा है, अत हमारा यह दृढ विश्वास है कि भविष्य मे भी बर्फ गरमी से अवश्य पिघलेगी। इसके विपरीत यदि किन्ही दो घटनाओ को हमने भूतकाल मे कभी कारण-कार्य के रूप मे सम्बद्ध देखा है और कभी नही तो भविष्य मे उनके कारण-कार्य के रूप मे सम्बद्ध होने का हमारा विश्वास बहुत दुर्बल होगा। हम जितनी बार इन घटनाओ को कारण-कार्य के रूप मे असम्बद्ध देखेंगे हमारा यह विश्वास उतना ही क्षीण होता जायेगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि कारणमूलक प्रायिकता कारण-कार्य रूप मे सम्बद्ध किन्ही दो घटनाओ की पुनरावृत्ति पर ही आधारित रहती है। ह्यूम के अनुसार इस प्रायिकता मे भी अनिश्चयात्मकता अवश्य पायी जाती है। इस अनिश्चयात्मकता का कारण स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि "यह मान्यता कि भविष्य भूतकाल के समान ही होगा किसी प्रकार के तर्कों पर आधारित न होकर पूर्णत आदत पर ही आधारित है जिसके कारण हम यह आशा करने लगते हैं कि भविष्य मे भी वैसी ही घटनाए होगी जैसी घटनाए हम भूतकाल मे देखने के अभ्यस्त है। ऐसी कोई भी महान् प्रायिकता नही है जिसमे विपरीत सम्भावना का स्थान न हो, क्योकि अन्यथा वह प्रायिकता न रहकर निश्चितता हो जायेगी।"[41] स्पष्ट है कि कारणमूलक प्रायिकता भी निश्चित और सदेह-मुक्त नही होती। वस्तुत इसकी निश्चयात्मकता भूतकाल मे प्राप्त हमारे अनुभवो की सख्या द्वारा ही निर्धारित होती है। यह सख्या जितनी कम या अधिक होगी कारणमूलक प्रायिकता की निश्चयात्मकता भी उतनी कम अथवा अधिक होगी। इस दृष्टि से भूतकाल मे प्राप्त हमारे प्रत्येक अनुभव का विशेष महत्त्व है। यदि भूतकाल में हमने किन्ही दो घटनाओ को केवल एक बार ही कारण-कार्य के रूप मे सम्बद्ध देखा है तो हमारे लिए भविष्य मे उनके कारण-काय रूप मे सम्बद्ध होने की प्रायिकता नगण्य ही होगी। इसके विपरीत यदि हमने भूतकाल मे किन्ही दो घटनाओ को सैकडो बार कारण और कार्य के रूप मे अनुभव किया है तो भविष्य मे हमारे लिए इन घटनाओ के कारण तथा कार्य के रूप मे सम्बद्ध होने की प्रायिकता बहुत अधिक होगी। इसी तथ्य को ध्यान मे रखते हुए ह्यूम ने कहा है कि "कारणमूलक प्रायिकता से सम्बन्धित हमारी समस्त युक्तिया भूतकाल द्वारा भविष्य के निर्धारण पर ही आधारित है।"[42] परन्तु ह्यूम का कथन है कि जब किन्ही दो घटनाओ के कारण और कार्य के रूप मे सम्बद्ध होने के विषय मे हमारे भूतकालीन अनुभवो की सख्या मे बहुत कम अन्तर होता है तो हमारे लिए उन घटनाओ के सम्बन्ध मे कारणमूलक प्रायिकता की निश्चयात्मकता का निर्णय करना असम्भव हो जाता है। जब हमारे भूनकालीन अनुभवो की सख्या मे पर्याप्त अन्तर होता है तभी हम यह निणय कर

(41) वही पुस्तक, पृ० 134, 135।
(42) वही पुस्तक, पृ० 138।

सकते हैं कि एक कारणमूलक प्रायिकता की अपेक्षा दूसरी कारणमूलक प्रायिकता कम अथवा अधिक निश्चित है। यहा यह स्मरण रखना चाहिए कि ह्यूम के मतानुसार हमारे भूतकालीन अनुभवो की सख्या चाहे कितनी ही अधिक क्यो न हो, वह हमारी कारणमूलक प्रायिकता को पूर्ण निश्चयात्मकता कभी प्रदान नही कर सकती। इसका कारण यह है कि अपने भूतकालीन अनुभवो के आधार पर हम भविष्य के विषय मे केवल अनुमान ही लगा सकते हैं, उसके सम्बन्ध मे निश्चय-पूर्वक कुछ भी नही कह सकते।

(12) आत्मा और व्यक्तिगत अनन्यता

हम पाचवें खण्ड मे देख चुके हैं कि ह्यूम किसी वस्तु के गुणो के सघात से भिन्न भौतिक द्रव्य की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नही करते, क्योकि उनके अनुसार हमे ऐसे किसी सस्कार का ज्ञान नही है जिससे द्रव्य का प्रत्यय उत्पन्न हो सके। प्रस्तुत खण्ड मे हम आत्मा के अस्तित्व तथा स्वरूप और व्यक्तिगत अनन्यता की समस्या के सम्बन्ध मे उनके मत पर विचार करेंगे।

शताब्दियो से अनेक दार्शनिको की यह मान्यता रही है कि आत्मा एक स्थायी, स्वतन्त्र तथा अभौतिक द्रव्य है जो हमारे समस्त मनोवेगो एव विचारो तथा हमारी इच्छाओ एव भावनाओ का आधार है जिसकी सत्ता मनष्य के देहात के पश्चात् भी बनी रहती है। परन्तु आत्मा के अस्तित्व और स्वरूप के विपय मे इस परम्परागत मान्यता को ह्यूम पूर्णत अस्वीकार करते हैं। उनका मत है कि भौतिक द्रव्य की भाति अभौतिक द्रव्य अथवा आत्मा का भी हमारे मन मे कोई प्रत्यय नही है क्योकि हम ऐसे किसी स्थायी सस्कार को नही जानते जो आत्मा के प्रत्यय को उत्पन्न कर सके। जो दार्शनिक आत्मा के अस्तित्व मे विश्वास करते है उन्हे सम्बोधित करते हुए ह्यूम ने कहा है कि वे हमे स्पष्टत बतायें कि आत्मा का प्रत्यय किस सस्कार से उत्पन्न होता है और वह सस्कार हमे किस वस्तु स प्राप्त होता है।[43] यह समझना कठिन नही है कि ह्यूम के अनुसार ये दार्शनिक उनके उपर्युक्त प्रश्न का कोई सतोपजनक उत्तर नही दे सकते। इसका कारण यह है कि आत्मा का प्रत्यय एक ऐसा कल्पित प्रत्यय है जिसका वास्तव मे कोई सस्कार नही है। जो दार्शनिक आत्मा के अस्तित्व मे विश्वाम करते हैं वे इसे सभी विचारो, सवेगो, भावनाओ तथा इच्छाओ का आधार या आश्रय मानते है, किन्तु ह्यूम का कथन है कि हमारे समस्त प्रत्यक्ष एक-दूसरे से अलग-अलग हैं, अत उन्हे किसी एक आधार अथवा आश्रय की आवश्यकता नही है। ऐसी स्थिति मे प्रत्यक्षो के आश्रय के रूप मे आत्मा की मत्ता को प्रमाणित करने का प्रयास निरर्थक है। हम जब तक जागृता-वस्था मे रहते है हमे एक दूसरे के पश्चात् आने वाले विभिन्न प्रत्यक्षो का ही ज्ञान

(43) देखिये, वही पुस्तक, पृ० 233।

होता है, उनके किमी आधार अथवा आश्रय का नही। प्रत्येक प्रत्यय किसी एक संस्कार से ही उत्पन्न हो सकता है, अत यदि हमे आत्मा के प्रत्यय का ज्ञान होता तो उसकी उत्पत्ति भी किसी एक सस्कार से ही हो सकती थी, परन्तु आत्मा का सम्बन्ध किमी एक सम्कार से न मानकर सभी सस्कारो से माना जाता है। इसके अतिरिक्त यदि आत्मा का प्रत्यय किसी एक सस्कार से उत्पन्न हुआ होता तो आजीवन हमारे मन मे वह सस्कार निरतर बना रहना चाहिए था, क्योकि आत्मा को शाश्वत माना जाता है, किन्तु वास्तव मे ऐसा कोई सस्कार नही है जो जीवन-पर्यन्त हमारे मन मे स्थायी रूप से बना रहता हो। सुख, दु ख, इच्छा, सवेग आदि सभी प्रत्यक्ष क्षणिक होते है और वे निरतर एक दूसरे का अनुवर्तन करते है। इसी कारण ह्यूम का कथन है कि "इन सस्कारो से अथवा किसी भी अन्य सस्कार से आत्मा का प्रत्यय उत्पन्न नही हो सकता, फलत ऐसा कोई प्रत्यय नही है।"[44] हम केवल विभिन्न क्रमिक प्रत्यक्षो को ही जानते हैं जो हमारे मन मे निरतर उत्पन्न होते रहते हैं किन्तु इन प्रत्यक्षो से हमे स्थायी अथवा शाश्वत आत्मा के प्रत्यय का ज्ञान नही होता। दूसरे शब्दो मे, ह्यूम के मतानुसार इन प्रत्यक्षो से पृथक् और स्वतन्त्र आत्मा की सत्ता नही है। वे इन क्रमिक प्रत्यक्षो के समुच्चय अथवा सघात के अतिरिक्त आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नही करते। उन्होने स्पष्ट कहा है कि "जहा तक मेरा सम्बन्ध है, जब मैं भीतर गहराई से प्रवेश करता हूँ तो मैं सदैव उष्ण या शीत, प्रकाश या छाया, प्रेम अथवा घृणा, सुख या दु ख आदि किसी विशेष प्रत्यक्ष का ही अनुभव करता हूँ। मैं कभी भी प्रत्यक्ष के बिना आत्मा को किसी भी समय पकड नही सकता और न ही मैं प्रत्यक्ष के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु को देख पाता हूँ। जब किसी समय—यथा, गहरी निद्रा मे—मैं प्रत्यक्षो का अनुभव करने मे असमर्थ होता हूँ तो मुझे स्वय अपना ज्ञान नही होता और ऐसी स्थिति मे यही कहना ठीक होगा कि तब मेरा अस्तित्व नही होता। जब मृत्यु के पश्चात् मेरे समस्त प्रत्यक्षो का अन्त हो जाता है और मैं न सोच सकता हूँ, न महसूस कर सकता हूँ, न देख सकता हूँ, न प्रेम कर सकता हूँ तथा न घृणा कर सकता हूँ तो मैं पूर्णत नष्ट हो जाता हूँ। • मैं सभी मनुष्यो के विषय मे यह कहने का साहस कर सकता हूँ कि वे ऐसे विभिन्न प्रत्यक्षो के समुच्चय अथवा सघात के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जो अचिंतनीय गति से एक-दूसरे का अनुवर्तन करते हैं और जो निरतर प्रवाहमय एव गतिशील है। • आत्मा की कोई ऐसी शक्ति नही है जो एक क्षण के लिए भी स्थायी अथवा अपरिवर्तनशील रह सके।"[45]

उपर्युक्त उद्धरण से आत्मा के विषय मे ह्यूम की निषेधात्मक मान्यता पर्याप्त सीमा तक स्पष्ट हो जाती है। अपनी इस मान्यता को और अधिक स्पष्ट करने के

(44) वही पुस्तक, पृ० 252
(45) वही पुस्तक, पृ० 252, 253।

लिए उन्होने आत्मा अथवा मन की रगमच के साथ तुलना की है। वे कहते हैं कि मन एक प्रकार का रगमच है जिस पर बहुत-से प्रत्यक्ष एक-दूसरे के पश्चात् आते और जाते रहते है। परन्तु रगमच के साथ मन की तुलना से हमे यह भ्रम नही होना चाहिए कि मन प्रत्यक्षो से भिन्न तथा स्वतन्त्र स्थान है जिसमे प्रत्यक्ष उपस्थित रहते हैं और आते जाते है। वास्तव मे इन प्रत्यक्षो का सघात ही मन है जिसकी इनसे पृथक् और स्वतन्त्र कोई सत्ता नही है।

यहा स्वभावत. यह प्रश्न उठता है कि यदि ह्यूम के मतानुसार मन अथवा आत्मा की स्थायी एव स्वतन्त्र सत्ता नही है और हमारे सभी प्रत्यक्ष एक-दूसरे से भिन्न तथा निराश्रित है तो व्यक्तिगत अनन्यता की व्याख्या किस प्रकार की जा सकती है। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ह्यूम ने कहा है कि हम अपनी स्मृति के आधार पर ही वस्तुओ तथा मनुष्यो की व्यक्तिगल अनन्यता की कल्पना करते हैं। वास्तव मे हमारे सभी प्रत्यक्ष अलग-अलग हैं और वे निरन्तर एक-दूसरे का अनुवर्तन करते हैं, किन्तु स्मृति के फलस्वरूप हम कुछ प्रत्यक्षो मे सादृश्य के सम्बन्ध का अनुभव करते है और इन प्रत्यक्षो को अलग-अलग न मान कर हम इनके निरन्तर अस्तित्व की कल्पना कर लेते हैं। हमारी यही कल्पना वस्तुओ तथा मनुष्यो की व्यक्तिगत अनन्यता का मूल आधार है। उदाहरणार्थ यदि हम एक मनुष्य को अलग-अलग समय मे कई बार देखते है तो समय का व्यवधान तथा उस मनुष्य मे अनेक परिवतन हो जाने पर भी हम यही कहते हैं कि यह वही मनुष्य है। भौतिक वस्तुओ की अनन्यता के विषय मे यही बात कही जा सकती है। हम प्रत्येक वस्तु तथा मनुष्य के सम्बद्ध प्रत्यक्षो के क्रमिक अनुवतन को स्मृति के कारण निरन्तर अस्तित्ववान मानने की कल्पना कर लेते है जिसके फलस्वरूप हमे उसकी अनन्यता का आभास होता है और हम यह कहने लगते हैं कि यह वही वस्तु अथवा मनुष्य है। इसका अभिप्राय यही है कि ह्यूम के मतानुसार वस्तुओ और मनुष्यो की अनन्यता वास्तविक न होकर हमारी कल्पना मात्र है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, अनन्यता से सम्बन्धित हमारी इस कल्पना का मूल आधार स्मृति ही है जिसके कारण हमे प्रत्यक्षो मे सादृश्य के सम्बन्ध का अनुभव होता है। इस सम्बन्ध मे स्मृति के महत्व का वर्णन करते हुए ह्यूम कहते है कि "स्मृति न केवल अनन्यता को खोजती है अपितु प्रत्यक्षो मे सादृश्य का सम्बन्ध उत्पन्न करके इसकी उत्पत्ति मे भी सहायक होती है। चाहे हम अपने सम्बन्ध मे विचार करें अथवा दूसरो के सम्बन्ध मे, स्मृति का महत्त्व समान रूप से बना रहता है। स्मृति ही हमे प्रत्यक्षो के अनुवर्तन की निरन्तरता और सीमा से परिचित कराती है, अत इसे ही मुख्यत व्यक्तिगत अनन्यता का स्रोत मानना आवश्यक ह। स्मृति हमारे विभिन्न प्रत्यक्षो के कारण-काय सम्बन्ध प्रदर्शित करके व्यक्तिगत अनन्यता को खोजती है।"[46] इस

(46) वही पुस्तक, पृ० 261।

प्रकार स्पष्ट है कि स्मृति को व्यक्तिगत अनन्यता का अनिवार्य आधार मानकर इस सम्बन्ध मे ह्यूम ने उसे विशेष महत्व दिया है। स्मृति के अतिरिक्त वस्तुओ तथा मनुष्यो मे बहुत धीमी गति से होने वाले अदृश्य परिवर्तन को भी वे व्यक्तिगत अनन्यता की कल्पना मे सहायक मानते हैं। उनका कथन है कि जब किसी वस्तु मे अचानक अत्यधिक परिवर्तन हो जाता है तो यह उसकी अनन्यता मे बाधक सिद्ध होता है, किन्तु जब यह परिवर्तन बहुत धीरे-धीरे तथा अदृश्य कारणो से होता है तो हम इसकी ओर ध्यान नही देते। यही कारण है कि कालान्तर मे ऐसी वस्तु के पूर्णत परिवर्तित हो जाने पर भी हम उसकी अनन्यता मे अपना विश्वास बनाये रखते हैं। उदाहरणार्थ जब एक बालक कई वर्ष के पश्चात् वयस्क हो जाता है तो उसके शरीर और मन मे अत्यधिक परिवर्तन हो जाता है, किन्तु फिर भी हम उसे 'वही मनुष्य' मानते हैं और इस प्रकार उसकी अनन्यता को स्वीकार करते है। इसी प्रकार नदी का जल निरन्तर परिवर्तित होता रहता है, किन्तु शताब्दियो के उपरान्त भी हम उसे 'वही नदी' कहकर उसकी अनन्यता मे अपना विश्वास व्यक्त करते है। अन्य भौतिक वस्तुओ के विषय मे भी यही बात कही जा सकती है। स्पष्ट है कि ह्यूम के मतानुसार जब वस्तुओ मे परिवर्तन धीरे-धीरे होता है और जब हम पहले से ही ऐसे परिवर्तन की आशा करते है तो इस परिवर्तन की उपेक्षा करते हुए हम उन वस्तुओ की अनन्यता मे अपना विश्वास बनाये रखते हैं। इसका अर्थ यही है कि वास्तव मे कोई भी वस्तु स्थायी अथवा अपरिवर्तनशील नही होती है, अत वस्तुओ तथा प्राणियो की व्यक्तिगत अनन्यता हमारी कल्पना मात्र है जिसके कारण हम उनमे होने वाले सतत परिवर्तन की ओर ध्यान नही देते। सक्षेप मे ह्यूम वस्तुओ तथा प्राणियो की व्यक्तिगत अनन्यता को सत्य एव वास्तविक न मानकर स्मृति पर आधारित हमारी कल्पना मात्र मानते हैं जिसके सम्बन्ध मे वादविवाद करना उनके अनुसार निरर्थक शब्दाडम्बर ही है।

परन्तु आत्मा और व्यक्तिगत अनन्यता के सम्बन्ध मे ह्यूम का उपर्युक्त सिद्धान्त दोषो तथा कठिनाइयो से मुक्त नही है। वस्तुत वे स्वय अपने इस सिद्धान्त को पूर्णत सतोषप्रद नही मानते थे। अपनी पुस्तक ट्रिटाइज' के परिशिष्ट मे उन्होने स्वय इस सिद्धान्त की एक बहुत बडी कठिनाई का उल्लेख किया है जिसका निराकरण करने मे वे अपने आपको असमर्थ पाते है। इस कठिनाई का सम्बन्ध हमारे प्रत्यक्षो के सगठन अथवा एकीकरण से है। यदि हमारे सभी प्रत्यक्ष एक दूसरे से अलग तथा आश्रयहीन है और यदि इन प्रत्यक्षो से पृथक् आत्मा का अस्तित्व है जैसा कि ह्यूम मानते है तो ये प्रत्यक्ष किस प्रकार सगठित एव परस्पर सम्बद्ध होते हैं। दूसरे शब्दो मे, हम यह प्रश्न इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते है कि ऐसा कौन-सा मूल तत्व अथवा सिद्धान्त है जो हमारे इन अलग-अलग प्रत्यक्षो को परस्पर सम्बद्ध तथा सगठित करता है। ह्यूम ने स्वय यही प्रश्न उठाया है और वे यह स्वीकार करते हैं कि इस प्रश्न का कोई सन्तोषप्रद उत्तर देने मे वे असमर्थ है। इस

सम्बन्ध मे उन्होने स्पष्ट कहा है कि "मुझे ज्ञात है कि मेरा सिद्धान्त बहुत दोषपूर्ण है । यदि सभी प्रत्यक्षो का अलग-अलग अस्तित्व है तो वे परस्पर सम्बद्ध होकर ही हमारे समक्ष एक समग्र इकाई के रूप मे उपस्थित हो सकते है । •• परन्तु जब मैं अपनी चेतना मे एक-दूसरे के पश्चात् उत्पन्न इन प्रत्यक्षो को सगठित करने वाले सिद्धान्तो की व्याख्या करने का प्रयास करता हूँ तो मेरी समस्त आशाए तिरोहित हो जाती हैं । मैं इस सम्बन्ध मे कोई सतोषप्रद सिद्धान्त खोजने मे असमर्थ हूँ । सक्षेप मे मेरे समक्ष ऐसे दो सिद्धात हैं जिनमे न तो मैं परस्पर सगति स्थापित कर सकता हूँ और न ही जिनमे से किसी एक को मैं छोड सकता हूँ । इनमे से प्रथम सिद्धान्त यह है कि हमारे सभी प्रत्यक्षो की अलग-अलग सत्ता है और दूसरा सिद्धान्त यह है कि मन इन अलग-अलग प्रत्यक्षो मे कभी भी कोई वास्तविक सम्बन्ध नही देख पाता ।••• इस सम्बन्ध मे मैं सशयवादी के मत को ही स्वीकार करता हूँ और मैं यह मानता हूँ कि मेरे लिए यह समस्या इतनी कठिन है कि मैं इसका समाधान नही कर सकता ।"[47] इस उद्धरण से यह पूणतया स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा और व्यक्तिगत अनन्यता के विषय मे ह्यूम अपने सिद्धान्त से असन्तुष्ट तथा आश्वस्त नही थे । हम देख चुके हैं कि उन्होने अलग-अलग प्रत्यक्षो के सघात के अतिरिक्त आत्मा या मन की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नही किया, ऐसी स्थिति में इन प्रत्यक्षो के परस्पर सम्बद्ध तथा सगठित होने की सतोषप्रद व्याख्या करना लगभग असम्भव हो जाता है । आधुनिक तर्कीय प्रत्यक्षवादियो ने मन अथवा आत्मा की जो अनुभववादी व्याख्या की है उसमे भी यही कठिनाई विद्यमान है और जहाँ तक हमे ज्ञात है, वे भी इस कठिनाई का पूर्णतया सतोषजनक समाधान प्रस्तुत नही कर सके । इससे यही प्रमाणित होता है कि आत्मा और व्यक्तिगत अनन्यता के सम्बन्ध मे पूर्णत अनुभववादी व्याख्या की सफलता बहुत सदिग्ध है ।

(13) सशयवाद

पिछले खडो मे हमने मानव ज्ञान की सीमा, कारण-कार्य सम्बन्ध, भौतिक वस्तुओ की सत्ता, द्रव्य अथवा आत्मा और व्यक्तिगत अनन्यता के विषय मे ह्यूम के जो विचार प्रस्तुत किये है उनसे यह स्पष्ट है कि वे दार्शनिक एव तार्किक दृष्टि से सशयवाद का समर्थन करते हैं । वे यह मानते हैं कि तार्किक दृष्टि से उस पूर्ण सशयवाद का खडन करना असम्भव है जिसका प्रतिपादन सर्वप्रथम यूनानी दार्शनिक पिरो (365 से 270 बी सी) ने किया था और जो अब दर्शन के इतिहास मे 'पिरोवाद' के नाम से विख्यात है । इस सिद्धान्त के अनुसार हम किसी भी वस्तु, समस्या अथवा सिद्धान्त के विषय मे निश्चित ज्ञान कभी नही प्राप्त कर सकते, अत हमे अपने समस्त ज्ञान को सदिग्ध ही मानना चाहिए और किसी कर्म, सिद्धान्त तथा समस्या के सम्बन्ध मे हमे अपना निश्चित निर्णय कभी नही देना चाहिए । अपनी

(47) वही पुस्तक, परिशिष्ट, पृ० 635-636 ।

ट्रीटाइज' तथा 'ऐन्क्वायरी' मे ह्यूम ने विस्तारपूर्वक इस मत का प्रतिपादन किया है कि दार्शनिक एव तार्किक दृष्टि से इस सशयवाद अथवा 'पिरो-वाद' को स्वीकार करना हमारे लिए अनिवार्य हो जाता है। परन्तु साथ ही वे यह भी मानते है कि व्यावहारिक दृष्टि से कोई भी व्यक्ति सदैव इस सिद्धान्त के अनुसार आचरण नही कर सकता। इसका कारण यह है कि यदि मनुष्य अपने व्यावहारिक जीवन मे इसी सिद्धान्त के अनुरूप आचरण करे तो वह किसी वस्तु अथवा कम के विषय मे विश्वासपूर्वक कभी कुछ नही कह सकता जिसके फलस्वरूप उसके लिए सामान्य जीवन व्यतीत करना असम्भव हो जायेगा।

अपनी पुस्तक 'ऐन ऐन्क्वायरी कन्सर्निंग ह्यूमन अडरस्टैडिंग' मे सशयवाद की व्याख्या करते हुए ह्यूम ने इस सिद्धान्त को 'पूर्ववर्ती सशयवाद' तथा 'अनुवर्ती सशयवाद' इन दो वर्गो मे विभाजित किया है। 'पूर्ववर्ती सशयवाद' से उनका तात्पर्य ऐसे सशयवाद से है जिसे किसी प्रकार का चिन्तन करने मे पूर्व ही स्वीकार कर लिया जाता है। इस सशयवाद के उदाहरण के रूप मे उन्होने डेकार्ट के सशयवाद को प्रस्तुत किया है जिसके अनुसार हमे न केवल अपने विश्वासो तथा सिद्धान्तो मे अपितु ज्ञान प्राप्त करने की अपनी शक्तियो मे भी सदेह करना चाहिए। डेकार्ट यह मानते थे कि हमारे लिए अपनी सभी क्षमताओ मे तब तक सदेह करना आवश्यक है जब तक हम ऐसे मूल सत्य की खोज न कर ले जो पूर्णत निश्चित एव असदिग्ध हो। परन्तु ह्यूम का मत है कि वास्तव मे ऐसा कोई असदिग्ध मूल सत्य नही है, और यदि वह होता भी तो उसे हम उन्ही शक्तियो की सहायता से ही प्राप्त कर सकते थे जिनकी प्रामाणिकता मे हमे सदेह करने के लिए कहा गया है। स्पष्ट है कि इस प्रकार का सशयवाद सम्भव नही है और यदि इसकी सम्भावना को स्वीकार कर लिया जाय तो इसका निराकरण कभी नही किया जा सकता।

परन्तु ह्यूम का कथन है कि पूर्ववर्ती सशयवाद का एक ऐसा रूप भी है जिसे उचित ही नही अपितु आवश्यक भी माना जा सकता है। इसके अनुसार किसी भी समस्या अथवा सिद्धान्त पर विचार करने से पूर्व हमे पक्षपात एव पूर्वाग्रह से पूर्णतया मुक्त होना चाहिए जिससे हम उसकी निष्पक्ष रूप से ठीक-ठीक जाच कर सकें। वास्तव मे इस तटस्थता और निष्पक्षता के अभाव मे हम किसी भी सिद्धान्त अथवा समस्या की समुचित एव प्रामाणिक जाच नही कर सकते। यही कारण है कि इस प्रकार के पूर्ववर्ती सशयवाद मे विश्वास करना प्रत्येक विचारक के लिए आवश्यक है।

ह्यूम के मतानुसार दूसरे प्रकार का सशयवाद अनुवर्ती सशयवाद है जो दार्शनिको की उस खोज का परिणाम है कि हमारी इन्द्रिया तथा मानसिक शक्तिया वस्तुओ का पूर्णत विश्वसनीय और निश्चित ज्ञान कभी प्राप्त नही कर सकती। इस अनुवर्ती सशयवाद का भी ह्यूम ने 'इन्द्रियो से सम्बन्धित सशयवाद' तथा 'बुद्धि से सम्बन्धित सशयवाद' इन दो वर्गो मे विभाजित किया है। प्रथम प्रकार के सशयवाद

के अनुसार इन्द्रियो द्वारा हमे वस्तुओ का जो ज्ञान प्राप्त होता है वह विश्वसनीय नही है। हम नैसर्गिक मूल प्रवृत्ति के कारण ही अपनी इन्द्रियो मे विश्वास करने के लिए प्रेरित होते हैं और किसी प्रकार की बौद्धिक युक्तियो का आधार लिये बिना ही हम यह मान लेते हैं कि भौतिक वस्तुओ की स्वतन्त्र एव निरन्तर सत्ता है जिस पर हमारे विचारो का ही नही अपितु हमारे अस्तित्व का भी कोई प्रभाव नही पड़ता। इसी स्वाभाविक मूल प्रवृत्ति के कारण हम इन्द्रियो द्वारा प्रस्तुत अपने प्रत्यक्षो को बाह्य वस्तुए मान लेते हैं और हमे अपनी इस मान्यता मे जरा भी सदेह नही होता कि हमारे ये प्रत्यक्ष बाह्य वस्तुओ का ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व करते है। परन्तु थोडा सा दार्शनिक चिंतन ही हमारे इस प्राकृतिक विश्वास को नष्ट कर देता है, क्योंकि इस चिंतन के फलस्वरूप हमे ज्ञात होता है कि हम केवल अपने प्रत्यक्षो को ही जान सकते है और इन्द्रिया इन प्रत्यक्षो को प्रस्तुत करने का माध्यम मात्र है, अत वे हमारे मन तथा इन प्रत्यक्षो मे कभी भी किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित नही कर सकती। परन्तु इसके साथ ही ह्यूम यह भी मानते है कि हम दार्शनिक चिन्तन द्वारा इस जटिल समस्या का समाधान खोजने मे असमर्थ हैं। अपने प्रत्यक्षो तक ही सीमित रहने तथा बाह्य वस्तुओ को न जान सकने के कारण हम यह कभी प्रमाणित नही कर सकते कि हमारे प्रत्यक्ष बाह्य वस्तुओ का प्रतिनिधित्व करते है। इस अनिवार्य कठिनाई का उल्लेख करते हुए ह्यूम ने लिखा है कि "मन के समक्ष प्रत्यक्षो के अतिरिक्त कुछ भी उपस्थित नही होता और वह वस्तुओ के साथ इन प्रत्यक्षो के सम्बन्ध का सम्भवत कभी अनुभव नही कर पाता, अत ऐसे सम्बन्ध को मान लेना किसी प्रकार के तर्क पर आधारित नही है। इन्द्रियो की विश्वसनीयता को प्रमाणित करने के लिए ईश्वर की सत्यता का आधार लेना निश्चय ही अनुचित है। यदि इस समस्या के साथ ईश्वर की सत्यता का कोई सम्बन्ध होता तो हमारी इन्द्रिया पूर्णत विश्वसनीय होती, क्योंकि यह सम्भव नही है कि ईश्वर हमे कभी धोखा दे सकता है।"[48] इसके अतिरिक्त ह्यूम ने यह प्रश्न भी उठाया है कि यदि हम बाह्य जगत् की सत्ता मे अविश्वास करते हैं तो हम ईश्वर के अस्तित्व को कैसे प्रमाणित कर सकते हैं। वस्तुत उनके मतानुसार हमारे लिए इस जटिल समस्या का कोई सतोषजनक समाधान खोज पाना असम्भव है। यदि हम अपनी प्राकृतिक मूल प्रवृत्ति का अनुसरण करते हुए प्रत्यक्षो को ही भौतिक वस्तुए मान लेते हैं तो दार्शनिक चिंतन अथवा तर्क हमारे इस नैसर्गिक विश्वास का खडन करता है। दूसरी ओर यदि हम यह मानते हैं कि हमारे प्रत्यक्ष वस्तुओ द्वारा उत्पन्न होकर उन्ही का प्रतिनिधित्व करते हैं तो अपनी इस मान्यता तथा बाह्य वस्तुओ के साथ प्रत्यक्षो के सम्बन्ध को प्रमाणित करने के लिए हम कोई विश्वसनीय तर्क नही दे पात। इसी कारण ह्यूम

(48) 'ऐन ऐन्क्वायरी कन्सरनिंग ह्यूमन अडरस्टैंडिंग', चार्ल्स डबल्यू हैंडेल द्वारा सम्पादित 'ह्यूम—सलेक्शन्ज' मे सकलित, पृ० 180

के अनुसार इन्द्रियो द्वारा हमे वस्तुओ का जो ज्ञान प्राप्त होता है वह विश्वसनीय नहीं है। हम नैसर्गिक मूल प्रवृत्ति के कारण ही अपनी इन्द्रियो मे विश्वास करने के लिए प्रेरित होते हैं और किसी प्रकार की बौद्धिक युक्तियो का आधार लिये बिना ही हम यह मान लेते हैं कि भौतिक वस्तुओ की स्वतन्त्र एव निरन्तर सत्ता है जिस पर हमारे विचारो का ही नही अपितु हमारे अस्तित्व का भी कोई प्रभाव नही पडता। इसी स्वाभाविक मूल प्रवृत्ति के कारण हम इन्द्रियो द्वारा प्रस्तुत अपने प्रत्यक्षो को बाह्य वस्तुए मान लेते है और हमे अपनी इस मान्यता मे जरा भी सदेह नही होता कि हमारे ये प्रत्यक्ष बाह्य वस्तुओ का ठीक ठीक प्रतिनिधित्व करते है। परन्तु थोडा सा दार्शनिक चिंतन ही हमारे इस प्राकृतिक विश्वास को नष्ट कर देता है, क्योकि इस चिंतन के फलस्वरूप हमे ज्ञात होता है कि हम केवल अपने प्रत्यक्षो को ही जान सकते है और इन्द्रिया इन प्रत्यक्षो को प्रस्तुत करने का माध्यम मात्र हैं, अत वे हमारे मन तथा इन प्रत्यक्षो मे कभी भी किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित नही कर सकती। परन्तु इसके साथ ही ह्यूम यह भी मानते हैं कि हम दार्शनिक चिन्तन द्वारा इस जटिल समस्या का समाधान खोजने मे असमर्थ हैं। अपने प्रत्यक्षो तक ही सीमित रहने तथा बाह्य वस्तुओ को न जान सकने के कारण हम यह कभी प्रमाणित नही कर सकते कि हमारे प्रत्यक्ष बाह्य वस्तुओ का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस अनिवार्य कठिनाई का उल्लेख करते हुए ह्यूम ने लिखा है कि "मन के समक्ष प्रत्यक्षो के अतिरिक्त कुछ भी उपस्थित नही होता और वह वस्तुओ के साथ इन प्रत्यक्षो के सम्बन्ध का सम्भवत कभी अनुभव नही कर पाता, अत ऐसे सम्बन्ध को मान लेना किसी प्रकार के तर्क पर आधारित नही है। इन्द्रियो की विश्वसनीयता को प्रमाणित करने के लिए ईश्वर की सत्यता का आधार लेना निश्चय ही अनुचित है। यदि इस समस्या के साथ ईश्वर की सत्यता का कोई सम्बन्ध होता तो हमारी इन्द्रिया पूर्णत विश्वसनीय होती, क्योकि यह सम्भव नही है कि ईश्वर हमे कभी धोखा दे सकता है।"[48] इसके अतिरिक्त ह्यूम ने यह प्रश्न भी उठाया है कि यदि हम बाह्य जगत् की सत्ता मे अविश्वास करते हैं तो हम ईश्वर के अस्तित्व को कैसे प्रमाणित कर सकते हैं। वस्तुत उनके मतानुसार हमारे लिए इस जटिल समस्या का कोई सतोषजनक समाधान खोज पाना असम्भव है। यदि हम अपनी प्राकृतिक मूल प्रवृत्ति का अनुसरण करते हुए प्रत्यक्षो को ही भौतिक वस्तुए मान लेते हैं तो दार्शनिक चिंतन अथवा तर्क हमारे इस नैसर्गिक विश्वास का खडन करता है। दूसरी ओर यदि हम यह मानते है कि हमारे प्रत्यक्ष वस्तुओ द्वारा उत्पन्न होकर उन्ही का प्रतिनिधित्व करते है तो अपनी इस मान्यता तथा बाह्य वस्तुओ के साथ प्रत्यक्षो के सम्बन्ध को प्रमाणित करने के लिए हम कोई विश्वसनीय तर्क नही दे पाते। इसी कारण ह्यूम

(48) 'ऐन ऐन्क्वायरी कन्सरनिंग ह्यूमन अन्डरस्टैंडिंग', चार्ल्स डब्ल्यू हैडेल द्वारा सम्पादित 'ह्यूम—सलैक्शन्ज' मे सकलित, पृ० 180

अनुसार आचरण करना पडता है और पिरोवाद सभी सिद्धान्तो तथा विश्वासो को तार्किक एव बौद्धिक दृष्टि से निराधार मानता है। इस प्रकार हमारे व्यावहारिक जीवन के साथ पिरोवाद अथवा अतिशय सशयवाद की कोई सगति नही है। इसी आधार पर मनुष्य के व्यावहारिक जीवन मे पिरोवाद की वाछनीयता को अस्वीकार करते हुए ह्यूम ने कहा है कि "सामान्य जीवन के कर्म तथा व्यवसाय पिरोवाद अथवा अतिशय सशयवाद के सिद्धान्तो के लिए बहुत घातक हैं। यदि यह अतिशय सशयवाद अपनी पूर्ण शक्ति एव सजीवता के साथ बना रहे तो इसके विरुद्ध मुख्य आपत्ति यह है कि इससे कोई स्थायी शुभ परिणाम प्राप्त नही हो सकता। पिरोवादी यह आशा नही कर सकता कि उसके दर्शन का हमारे मन पर कोई स्थायी प्रभाव पडेगा और यदि ऐसा स्थायी प्रभाव पडा तो भी वह यह आशा नही कर सकता कि समाज के लिए यह प्रभाव हितकर होगा। इसके विपरीत उसे यह मानना पडेगा कि यदि उसके सिद्धान्तो को सार्वभौमिक रूप से दृढतापूर्वक स्वीकार कर लिया जाये तो सम्पूर्ण मानव-जीवन नष्ट हो जायेगा। सम्पूर्ण चिन्तन तथा कर्म का तुरन्त अन्त हो जायेगा और मनुष्य तब तक पूर्ण सुषुप्तावस्था मे पडे रहेंगे जब तक अतृप्त प्राकृतिक आवश्यकताए उनके इस दुखद अस्तित्व को समाप्त नही कर देती।"[49] इस प्रकार ह्यूम का यह निश्चित मत है कि पिरोवाद अथवा अतिशय सशयवाद मनुष्य के व्यावहारिक जीवन मे न तो सम्भव है और न वाछनीय। यही कारण है कि दार्शनिक दृष्टि से इस सिद्धान्त को पूर्णत युक्तिसगत एव अकाट्य मानते हुए भी उन्होने मानव के व्यावहारिक जीवन के लिए इसका समर्थन नही किया।

वस्तुत ह्यूम अतिशय सशयवाद के स्थान पर 'विनम्र सशयवाद' मे विश्वास करते हैं जो उनके विचार मे उचित, आवश्यक तथा उपादेय है। यह 'विनम्र सशय-वाद' पिरोवाद का परिणाम है और इसे स्वीकार करना प्रत्येक तटस्थ एव निष्पक्ष विचारक के लिए अनिवार्य है। इस सशयवाद के अनुसार हमे अपनी खोज उन्ही विषयो तक सीमित रखनी चाहिए जिनका ज्ञान हम अपनी मानसिक शक्तियो द्वारा प्राप्त करने मे समर्थ हैं—अर्थात् जो हमारे अनुभव के अन्तगत आते हैं। परन्तु, जैसा कि हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं, इन विषयो से सम्बन्धित हमारा ज्ञान भी केवल प्रायिक ही हो सकता है, निश्चित अथवा असदिग्ध नही। अमूर्त तर्कना द्वारा असदिग्ध रूप से हम केवल ऐसा ज्ञान ही प्राप्त कर सकते हैं जिसका सम्बन्ध मात्रा तथा सख्या से है, हमारा शेष सम्पूर्ण ज्ञान प्रायिकता पर ही आधारित होता है। इसी कारण ह्यूम ने कहा है कि "निष्पक्ष विचारक के प्रत्येक अनुसधान तथा निर्णय के साथ सामान्यत सशय, सावधानी और नम्रता का होना सदैव आवश्यक है।"[50] केवल अनुभव पर आधारित होने के कारण हमारा वस्तु-तथ्य विषयक ज्ञान अमूर्त

(49) वही पुस्तक, पृ० 185, 187।
(50) वही पुस्तक, पृ० 188।

भाग—2

मनोवेग

(14) मनोवेगो का स्वरूप और महत्त्व

पिछले खण्डो मे हमने ह्यूम की ज्ञानमीमासा से सम्बन्धित कुछ प्रमुख सिद्धान्तो पर विचार किया है। परन्तु, जैसा कि हम प्रथम खण्ड मे ही बता चुके है, उनका दर्शन ज्ञानमीमासा एव तत्त्वमीमासा तक ही सीमित नही है। उन्होने दर्शन के इन दो पक्षो के अतिरिक्त नीतिशास्त्र, धर्मदर्शन तथा राजनीति-दर्शन से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याओ का भी विस्तृत एव गम्भीर विवेचन किया है। इन समस्याओ के विषय मे ह्यूम के विचारो तथा सिद्धान्तो का अध्ययन करके ही हम उनके दर्शन की व्यापकता का कुछ परिचय प्राप्त कर सकते है। यहा हम सक्षेप मे नीतिशास्त्र, धर्म-दर्शन तथा राजनीति-दर्शन से सम्बन्धित उनके कुछ प्रमुख सिद्धान्तो का उल्लेख करेंगे।

नीतिशास्त्र अथवा आचारमीमासा सम्बन्धी ह्यूम के सिद्धान्तो का विवेचन करने से पूर्व मनोवेगो के स्वरूप तथा महत्त्व के विषय मे उनके मत का उल्लेख करना बहुत आवश्यक है, क्योकि उनके अनुसार नैतिकता का मूल आधार तर्कबुद्धि न होकर मनोवेग अथवा भावनाए ही हैं। इस दृष्टि से मानव-जीवन मे मनोवेगो के महत्त्व को ध्यान मे रखते हुए ही उन्होने अपनी पुस्तक 'ट्रिटाइज' के द्वितीय भाग मे इनके स्वरूप तथा मनुष्य के आचरण पर इनके व्यापक प्रभाव का बहुत विस्तार-पूर्वक विवेचन किया है। ह्यूम 'मनोवेग' शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ मे करते है। वे केवल भय, क्रोध, घृणा, प्रेम आदि सवेगो को ही 'मनोवेग' नही कहते, अपितु सुख-दु ख, आशा-निराशा, इच्छा, गर्व, नम्रता आदि को भी मनोवेगो के अन्तर्गत ही सम्मिलित करते है। इतना ही नही, उन्होने सौदर्यभावना, परोपकारशीलता, नैतिक अनुमोदन तथा अननुमोदन की भावना को भी मनोवेगो के अन्तगत ही रखा है। इससे स्पष्ट है कि उनके मतानुसार मनोवेगो का क्षेत्र कुछ विशेप तीव्र सवेगो तक ही सीमित न होकर बहुत विस्तृत है, अत इस व्यापक अर्थ मे मनोवेग ही मनुष्य की अधिकतर क्रियाओ को निर्धारित करते है। मनुष्य की तर्कबुद्धि मनोवेगों द्वारा निर्धारित लक्ष्यो की पूर्ति का आवश्यक साधन है, किन्तु वह स्वय न तो इन लक्ष्यो को निर्धारित कर सकती है और न इनकी पूर्ति के लिए प्रेरक शक्ति के रूप मे कार्य कर सकती है। इसी कारण ह्यूम ने मानव-जीवन मे तर्कबुद्धि को गौण और मनोवेगो को प्रमुख स्थान दिया है। जब वे तर्कबुद्धि को मनोवेगो की सेविका

कहते है तो इसका अर्थ यही है कि वह उन लक्ष्यो की पूर्ति का आवश्यक एव महत्त्व-पूर्ण साधन है जो हमारे मनोवेगो द्वारा ही निर्धारित होते है ।

जैसा कि हम द्वितीय खण्ड मे स्पष्ट कर चुके हैं, ह्यूम समस्त मनोवेगो को 'गौण सस्कार' अथवा 'अनुचिंतन सम्बन्धी सस्कार' कहते है जो मूलत सवेदन सम्बन्धी सस्कारो तथा उनके प्रत्ययो से ही उत्पन्न होते हैं । उन्होने मनोवेगो का दो प्रकार से वर्गीकरण किया है । प्रथम वर्गीकरण के अनुसार मनोवेग दो प्रकार के होते हैं—'शात' तथा 'तीव्र' या 'उत्तेजनापूर्ण' । शात मनोवेग वे है जिनमे तीव्रता अथवा उत्तेजना बहुत कम होती है । इन मनोवेगो के उदाहरण के रूप मे ह्यूम ने प्राकृतिक दृश्यो, कला तथा बाह्य वस्तुओ के फलस्वरूप मनुष्य के मन मे उत्पन्न सौंदर्यानुभूति अथवा कुरूपता की अनभूति तथा नैतिक अनुमोदन और अननुमोदन की भावना का उल्लेख किया है । तीव्र मनोवेग वे है जिनके कारण हम प्राय कुछ उत्तेजना का अनुभव करते है । प्रेम, घृणा, सुख, दु ख आदि मनोवेगो को ह्यूम ने इसी श्रेणी मे रखा है । इन मनोवेगो को वे 'तीव्र' अथवा 'उत्तेजनापूर्ण' मनोवेग कहते हैं । वे यह स्वीकार करते हैं कि मनोवेगो का उपर्युक्त वर्गीकरण सभी परिस्थितियो मे पूर्णत युक्तिसगत नही है, क्योकि कुछ परिस्थितियो मे सगीत, कविता, नाटक आदि से उत्पन्न मनोवेग बहुत तीव्र होते है जबकि सुख, दु ख, प्रेम, घृणा आदि मनोवेगो मे अधिक तीव्रता या उत्तेजना नही होती । मनोवेगो के इस वर्गीकरण के अतिरिक्त ह्यूम ने उनका एक अन्य वर्गीकरण भी किया है । इस दूसरे वर्गीकरण के अनुसार भी मनोवेग दो प्रकार के होते है—प्रत्यक्ष तथा परोक्ष । प्रत्यक्ष मनोवेग वे हैं जो सुख-दु ख की अनुभूति के फलस्वरूप प्रत्यक्षत तुरन्त हमारे मन मे उत्पन्न होते है । सुख-दु ख, आशा-निराशा, इच्छा-विकर्षण, भय, सुरक्षा आदि मनोवेगो को ह्यूम ने 'प्रत्यक्ष मनोवेग' कहा है । परोक्ष मनोवेग वे है जो सुख तथा दु ख की अनुभूति से प्रत्यक्षत उत्पन्न न होकर सुख-दु ख के साथ कुछ अन्य विशेष गुणो के सम्बन्ध के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं । गर्व, नम्रता, महत्वाकाक्षा, अभिमान, प्रेम, घृणा, ईर्ष्या, दया, उदारता आदि मनोवेगो को ह्यूम ने इसी श्रेणी के अन्तर्गत रखा है । ये मनोवेग सुख-दु ख की अनुभूति से तुरन्त प्रत्यक्षत उत्पन्न न होने के कारण प्रत्यक्ष मनोवेगो से कुछ भिन्न है । मनोवेगो के इस वर्गीकरण की एक कठिनाई की ओर यहा सकेत कर देना आवश्यक प्रतीत होता है । एक ओर तो ह्यूम यह कहते हैं कि प्रत्यक्ष मनोवेग सुख-दु ख की अनुभूति के फलस्वरूप प्रत्यक्षत उत्पन्न होते है और दूसरी ओर वे सुख तथा दु ख को प्रत्यक्ष मनोवेग भी मानते हैं । परन्तु इन दोनो मान्यताओ को एक साथ स्वीकार करना कुछ कठिन ही प्रतीत होता है । यदि सुख और दु ख प्रत्यक्ष मनोवेगो के मूल कारण है तो स्वय उन्हे 'प्रत्यक्ष मनोवेग' कैसे कहा जा सकता है ? जहा तक मुझे ज्ञात है, ह्यूम ने इस प्रश्न पर विचार नही किया ।

यद्यपि ह्यूम मनोवेगो को 'गौण सस्कार कहते है फिर भी उनके विचार

मे ये मनोवेग सवेदन-सस्कारो की भाति मानव-जीवन की मूल अनुभूतियाँ है। जन्म-जात होने के कारण ये मनोवेग मानव-स्वभाव का अनिवार्य अग है, अत हम सब अपने व्यावहारिक जीवन मे अनिवार्यत इनका अनुभव करते हैं। मनुष्य के अतिरिक्त अन्य प्राणी भी अधिकतर मनोवेगो का अनुभव करते हैं, ऐसी स्थिति मे यह कहना अनुचित न होगा कि ये मनोवेग 'सार्वभौमिक' हैं। ह्यूम का मत है कि मनुष्य के जीवन में मनोवेगो पर साहचर्य के नियमो का पर्याप्त प्रभाव पडता है। सादृश्य, देश-काल सम्बन्धी सामीप्य तथा कारण-कार्य सम्बन्ध ही यह निर्धारित करते हैं कि हम मनोवेगो का कब, कितना और किस प्रकार अनुभव करेगे। परन्तु साहचर्य के ये नियम मनोवेगो के स्रोत अथवा मूल कारण नही हैं। मनोवेग बाह्यारोपित न होकर सभी प्राणियो के जीवन की नैसर्गिक अनुभूतिया हैं, अत समस्त प्राणियो का जीवन प्राय इन्ही मनोवेगो द्वारा शासित तथा सचालित होता है। मानव सहित सभी प्राणियो के जीवन पर मनोवेगो के इस व्यापक प्रभाव के कारण ही ह्यूम ने अपने दशन मे इनके विवेचन को विशेप महत्त्व दिया है। इसी तथ्य को ध्यान मे रखते हुए कुछ विचारक मनोवेगो से सम्बन्धित ह्यूम के सिद्धान्त को ही उनके दर्शन का आधारभूत सिद्धान्त मानते है। इन विचारको मे नारमन कैम्प-स्मिथ का नाम विशेप रूप से उल्लेखनीय है। उनके मतानुसार "ह्यूम के दर्शन का मूल सिद्धान्त यह है कि अन्य प्राणियो के जीवन के समान ही मनुष्य के जीवन का भी निर्धारक तत्त्व तर्कबुद्धि न होकर भावना ही है। ·· वे हमे बताते है कि 'विश्वास' भी एक मनोवेग ही है। इसी कारण उनके नैतिक दर्शन का मूल सिद्धान्त—'तर्कबुद्धि मनोवेगो की सेविका है और होनी चाहिए'—उनकी ज्ञानमीमासा का भी मूल सिद्धान्त है। ज्ञानमीमासा के सम्बन्ध मे उनके इस मूल सिद्धान्त का रूप यह है कि 'तर्कबुद्धि हमारे नैसर्गिक अथवा प्राकृतिक विश्वासो के आधीन है और होनी चाहिए'।"[52] इस प्रकार स्पष्ट है कि ह्यूम के विचार मे मानव-जीवन के लिए तर्कबुद्धि की अपेक्षा मनोवेगो का कही अधिक महत्त्व है।

(15) कुछ प्रमुख मनोवेग

ह्यूम ने अपनी पुस्तक 'ट्रिटाइज' के द्वितीय भाग मे मनुष्य के कुछ महत्त्व-पूर्ण मनोवेगो, उनके कारणो तथा मानव-जीवन पर उनके प्रभाव का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। इन मनोवेगो मे गर्व, नम्रता अथवा दीनता, प्रेम, घृणा, ईर्ष्या, दया, उदारता, परोपकारशीलता, क्रोध, भय, जिज्ञासा आदि विशेप रूप से उल्लेखनीय है। यहा स्थानाभाव के कारण इन सभी मनोवेगो के विषय मे ह्यूम के मत पर विचार करना सम्भव नही है, अत हम इनमे से कुछ प्रमुख मनोवेगो के सम्बन्ध मे उनके विचार प्रस्तुत करेंगे।

(52) नारमन कैम्प-स्मिथ, 'दि फिलासफी आफ डेविड ह्यूम', पृ० 11।

(1) गर्व और नम्रता—सर्वप्रथम ह्यूम ने गर्व तथा नम्रता या दीनता इन दो विरोधी मनोवेगो का विस्तृत विवेचन किया है। इन दोनो मनोवेगों के स्वरूप की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि "कोई भी वस्तु जो हमे सुख प्रदान करती है और जिसका स्वय हमसे सम्बन्ध है गर्व नामक मनोवेग उत्पन्न करती है जो हमारे लिए सुखद होता है और जिसका विषय कोई अन्य व्यक्ति न होकर हम स्वय ही होते है। मैंने जो गर्व के सम्बन्ध मे कहा है वह नम्रता या दीनता के विषय मे भी समान रूप से सत्य है। दीनता हमारे लिए कुछ कष्टदायक होती है जबकि गर्व हमारे लिए सुखद होता है। · · यद्यपि गर्व तथा दीनता एक-दूसरे के विरोधी मनोवेग है, फिर भी इन दोनो का विषय एक ही है और वह है इन्हे अनुभव करने वाला स्वय व्यक्ति।"[53] वस्तुत ह्यूम 'गर्व' तथा 'नम्रता' इन दोनो शब्दो का व्यापक अर्थ मे प्रयोग करते है। वे 'गर्व' के अन्तर्गत दर्प तथा अभिमान को और 'नम्रता' के अन्तर्गत विनयशीलता एव दीनता को सम्मिलित करते है। 'नम्रता' के स्वरूप की उन्होने जो व्याख्या की है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे 'आत्मग्लानि' को भी इसमे सम्मिलित करते है। यही कारण है कि उन्होने 'नम्रता' को दुखद मनोवेग माना है। वे स्पष्ट कहते है कि 'हमारे मन मे गर्व के कारण सुखद सवेदन तथा नम्रता के कारण दुखद सवेदन उत्पन्न होते हैं और सुख तथा दुख को हटा देने पर वस्तुत गर्व एव नम्रता सम्भव नही हैं।"[54] इस प्रकार ह्यूम के मतानुसार गर्व तथा नम्रता का बहुत व्यापक अर्थ है और इन दोनो मनोवेगो का स्वय व्यक्ति के 'अहम्' के साथ प्रत्यक्ष एव अनिवार्य सम्बन्ध है। व्यक्ति उन्ही गुणो तथा वस्तुओ के कारण गर्व और नम्रता का अनुभव कर सकता है जो स्वय उससे प्रत्यक्षत सम्बन्धित हैं। गर्व के मूल कारणो का उल्लेख करते हुए ह्यूम ने कहा है कि किसी भी क्षेत्र मे विशेष बौद्धिक योग्यता, नैतिक सद्‌गुण, शारीरिक सौंदर्य तथा बल, उच्च पद, धन, यश, सामाजिक प्रतिष्ठा और सम्मान के फलस्वरूप व्यक्ति के मन मे गर्व उत्पन्न होता है। नम्रता के मूल कारण गर्व के मूल कारणो के ठीक विपरीत है। किसी प्रकार की बौद्धिक, नैतिक तथा शारीरिक दुर्बलता और आर्थिक एव सामाजिक हीनता के परिणामस्वरूप ही व्यक्ति के मन मे यह मनोवेग उत्पन्न होता है।[55] सक्षेप मे स्वय व्यक्ति के साथ प्रत्यक्षत सम्बद्ध गुणो और वस्तुओ के कारण ही उसके मन मे गर्व तथा नम्रता की उत्पत्ति होती है।

गर्व और नम्रता की उत्पत्ति के लिए उपर्युक्त कारण के अतिरिक्त ह्यूम ने कुछ अन्य अनिवार्य कारण भी बताये है जिनका यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है। जिस गुण अथवा वस्तु के विषय मे हम गर्व का अनुभव करते हैं उसका स्वय

(53) डेविड ह्यूम, 'ए ट्रिटाइज आफ ह्यूमन नेचर', बुक 2, पृ० 288।
(54) वही पुस्तक, पृ० 286।
(55) देखिये वही पुस्तक, पृ० 279।

हमारे साथ अत्यत घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध होना बहुत आवश्यक है। इस घनिष्ठ सम्बन्ध के अभाव मे हमे किसी वस्तु से सुख तो प्राप्त हो सकता है, किन्तु हम उसके सम्बन्ध मे गर्व का अनुभव नही कर सकते। उदाहरणार्थ किसी सुन्दर प्राकृतिक दृश्य को देख कर हम आनन्दित होते हैं, किन्तु उसके कारण हमे गर्व का अनुभव नही होता, क्योकि वह स्वय हम से सम्बधित नही है। किसी भी गुण या अवगुण के सम्बन्ध मे गर्व अथवा नम्रता या दीनता का अनुभव करने के लिए यह आवश्यक है कि वह केवल हम से सम्बद्ध हो। जो गुण अथवा अवगुण सभी या अधिकतर व्यक्तियो मे पाया जाता है उसके विषय मे हम गर्व अथवा दीनता का अनुभव नही करते। इसी प्रकार यदि किसी उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट वस्तु का सम्बन्ध सभी या अधिकतर व्यक्तियो से है तो उसके विषय मे हमे गर्व अथवा दीनता का अनुभव नही होता। किसी गुण अथवा वस्तु के विषय मे गर्व या नम्रता का अनुभव करने के लिए यह भी आवश्यक है कि वह अन्य व्यक्तियो के समक्ष पूर्णत स्पष्ट हो—अर्थात् वे यह जानते हो कि उसका हम से अथवा कुछ थोडे-से व्यक्तियो के साथ ही सम्बन्ध है। यदि हमारे उत्कृष्ट गुणो अथवा हमारी दुर्बलताओ का अन्य व्यक्तियो को ज्ञान नही है तो उनके सम्बन्ध मे हमे गर्व या दीनता का अनुभव नही होगा। स्पष्ट है कि किसी भी गुण अथवा वस्तु के सम्बन्ध मे गर्व या दीनता के अनुभव के लिए दूसरो के साथ हमारी स्थिति का तुलनात्मक मूल्याकन बहुत आवश्यक है। उसके अतिरिक्त हम उसी गुण अथवा दुर्बलता के विषय मे गर्व या दीनता का अनुभव कर सकते हैं जो स्थायी रूप से अथवा दीर्घ काल के लिए हम से सम्बन्धित है। किसी क्षणिक सफलता या दुर्बलता के कारण हम उसके सम्बन्ध मे गर्व अथवा दीनता का अनुभव नही करते। हमारे पास जो कुछ स्थायी रूप से अथवा दीर्घकाल के लिए है उसी के सम्बन्ध मे हम इन मनोवेगो का अनुभव कर सकते हैं। सक्षेप मे ह्यूम के मतानुसार उपर्युक्त सभी कारण गर्व तथा नम्रता या दीनता का अनुभव करने के लिए अनिवार्य हैं। यद्यपि वे गर्व को सुखद तथा दीनता को दुखद मनोवेग मानते हैं फिर भी उन्होने स्पष्टत यह स्वीकार किया है कि गर्वशील व्यक्ति का सुखी होना और दीन व्यक्ति का दुखी होना आवश्यक नही है।[56] ऐसी स्थिति मे ह्यूम की इस मान्यता का औचित्य कुछ सदिग्ध ही प्रतीत होता है कि गर्व सुखद और दीनता दुखद मनोवेग है। वस्तुत यह कहना अनुचित न होगा कि अत्यधिक गर्व मनुष्य के लिए दु ख का कारण हो सकता है, उसकी नम्रता अथवा दीनता नही। इसी कारण भारतीय मनीषियो ने मनुष्य के पाच शत्रुओ मे गर्व या अभिमान की भी गणना की है।

(2) प्रेम और घृणा—गर्व और नम्रता की भाति प्रेम और घृणा के स्वरूप, उनके कारणो तथा मानव-जीवन पर उनके प्रभाव का भी ह्यूम ने विस्तृत विवेचन

(56) देखिये वही पुस्तक, पृ॰ 294।

किया है। उनका कथन है कि गर्व तथा नम्रता के विपरीत प्रेम और घृणा का अनुभव हम स्वय अपने प्रति न कर के किसी अन्य व्यक्ति के प्रति ही करते है। दूसरे शब्दो मे, गर्व और नम्रता के विषय अथवा पात्र हम स्वय ही होते है जबकि हमारे प्रेम तथा हमारी घृणा का पात्र अनिवार्यत कोई अन्य व्यक्ति ही होता है। इसके अतिरिक्त प्रेम और घृणा गर्व तथा नम्रता की अपेक्षा अधिक व्यापक मनोवेग हैं। जब हम किसी व्यक्ति से प्रेम अथवा घृणा करते हैं तो हमारे ये मनोवेग केवल उसी तक सीमित नही रहते, हम उससे सम्बद्ध व्यक्तियो से भी प्रेम या घृणा करने लगते है और इस प्रकार इन मनोवेगो का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो जाता है। प्रेम और घृणा के इस विस्तार का एकमात्र कारण इनके पात्र से अन्य व्यक्तियो का सम्बन्धित होना ही है। यद्यपि ये व्यक्ति स्वय हमे सुख अथवा दुख नही पहुचाते, फिर भी हमारे प्रेम या हमारी घृणा के पात्र से सम्बद्ध होने के कारण इनके प्रति भी हम प्रेम अथवा घृणा का अनुभव करने लगते हैं। यह अनुभवसिद्ध तथ्य है कि जब किसी एक व्यक्ति से हमारी मैत्री अथवा शत्रुता हो जाती है तो प्राय उसके सभी सम्बन्धियो के प्रति भी हमारे मन मे मैत्री अथवा शत्रुता की भावना उत्पन्न हो जाती है, यद्यपि हम यह जानते है और स्वीकार करते हैं कि उसके इन सम्बन्धियो ने ऐसा कोई कार्य नही किया जिसके कारण हम उनके प्रति मैत्री या शत्रुता का अनुभव करें। इससे स्पष्ट है कि प्रेम और घृणा का क्षेत्र बहुत व्यापक है। गर्व तथा नम्रता की भाँति प्रेम और घृणा भी एक-दूसरे के विरोधी मनोवेग है। स्वय अनुभवकर्त्ता को प्रेम से सुख तथा घृणा से दुख प्राप्त होता है। दूसरो पर भी प्रेम और घृणा का प्रभाव क्रमश सुखद तथा दुखद ही होता है। हम जिस व्यक्ति से प्रेम करते है उसे सभी प्रकार से सुख प्रदान करने का हम अधिकाधिक प्रयास करते हैं। इसके विपरीत हम जिस व्यक्ति से घृणा करते है उसे दुख पहुचाने का हम यथासम्भव अधिकतम प्रयास करते हैं। हमे इन दोनो स्थितियो मे सुख की प्राप्ति होती हैं—अर्थात् प्रेम-पात्र को सुख देकर और घृणा के पात्र को दुख पहुचा कर हम स्वय सुख का अनुभव करते हैं। स्पष्ट है कि हम अपने प्रेम अथवा घृणा के पात्र के प्रति कभी भी उदासीन नही रह सकते। इसी कारण ह्यूम ने गर्व तथा नम्रता के विपरीत प्रेम और घृणा को 'सक्रिय मनोवेग' माना है। प्रेम और घृणा दोनो ही हमे दूसरो के प्रति कुछ करने के लिए अनिवार्यत प्रेरित करते है। प्रेम के साथ उसके पात्र के प्रति आकर्षण तथा उसे सुख प्रदान करने की इच्छा का और घृणा के साथ उसके पात्र के प्रति विकर्षण तथा उसे दुख पहुचाने की इच्छा का अनिवार्य सम्बन्ध है।

प्रेम और घृणा को उत्पन्न करने वाले कारण स्वय अनुभवकर्त्ता मे निहित न हो कर किसी अन्य व्यक्ति मे ही विद्यमान रहते हैं। ह्यूम का कथन है कि यदि हम प्रेम और घृणा के कारणों पर विचार करें तो हमे ज्ञात होगा कि वे बहुत भिन्न-भिन्न तथा अनेक प्रकार के है। किसी व्यक्ति के नैतिक सद्गुण, उसकी बौद्धिक योग्यताए,

उसका ज्ञान तथा शारीरिक सौंदर्य हमारे मन मे उसके प्रति प्रेम उत्पन्न कर सकते हैं । ह्यूम का मत है कि घृणा के कारण प्रेम के उपर्युक्त कारणों के ठीक विपरीत है, किन्तु उनके इस मत का औचित्य सन्दिग्ध ही प्रतीत होता है । हमारे मन मे किसी ऐसे व्यक्ति के प्रति घृणा उत्पन्न नही होती जो शारीरिक दृष्टि से दुर्बल तथा कुरूप अथवा बौद्धिक दृष्टि से निम्न स्तर का हो । कुरूप व्यक्ति के प्रति हमारे मन मे विकर्षण उत्पन्न हो सकता है और बौद्धिक दृष्टि से निकृष्ट व्यक्ति के प्रति हम उदासीन हो सकते हैं, किन्तु ये दोनो कारण हमारे मन मे उसके प्रति घृणा उत्पन्न नही कर सकते । इसी प्रकार किसी व्यक्ति का शारीरिक सौदय एव उच्च बौद्धिक स्तर हमारे मन मे उसके प्रति क्रमश आकर्षण तथा सम्मान उत्पन्न कर सकता है, किन्तु यह आवश्यक नही है कि इस आकर्षण और सम्मान के कारण हम उससे प्रेम करने लगें । इस प्रकार ह्यूम ने किसी व्यक्ति की शारीरिक सुन्दरता तथा बौद्धिक उत्कृष्टता के साथ प्रेम का और उसकी शारीरिक कुरूपता तथा बौद्धिक निकृष्टता के साथ घृणा का जो अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित किया है[57] वह उचित प्रतीत नही होता । वस्तुत सुख तथा दु ख के साथ ही क्रमश प्रेम और घृणा का अनिवार्य सम्बन्ध है जो हमे किसी व्यक्ति से प्राप्त होता है । हमारे मन मे उसी व्यक्ति के प्रति प्रेम उत्पन्न होता है जिससे हमे सुख की प्राप्ति होती है । हम ऐसे व्यक्ति से घृणा करने लगते हैं जिससे हमे दु ख प्राप्त होता है । प्रेम और घृणा के सम्बन्ध मे इस तथ्य को स्वय ह्यूम ने पूर्णत स्वीकार किया है । वे कहते हैं कि "जो व्यक्ति हमारी सेवा, प्रशसा या अपने शारीरिक सौंदर्य द्वारा हमे प्रसन्न करता है अथवा किसी भी प्रकार से हमारे लिए उपयोगी सिद्ध होता है वह निश्चय ही हमारा प्रेम प्राप्त कर लेता है । इसी प्रकार जो व्यक्ति हमे हानि पहुचाता है अथवा हमे अप्रसन्न करता है वह अनिवार्यत हमारी घृणा का पात्र बन जाता है ।"[58] प्रेम और घृणा के कारणो के सम्बन्ध मे ह्यूम का उपर्युक्त मत उचित ही प्रतीत होता है । वस्तुत किसी व्यक्ति के प्रति हमारे प्रेम अथवा हमारी घृणा मे उसी अनुपात से वृद्धि या कमी होती है जिस अनुपात से हमे उससे सुख या दु ख प्राप्त होता है ।

ह्यूम ने प्रेम और घृणा के कारणो के विषय मे एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है जिस पर यहाँ विचार करना आवश्यक है । प्रश्न यह है कि क्या हमारे मन मे किसी ऐसे व्यक्ति के प्रति प्रेम या घृणा की उत्पत्ति हो सकती है जिसने जानबूझ कर हमे सुख अथवा दु ख नही पहुचाया किंतु जिससे अनायास अथवा अकस्मात् ही हमे सुख या दु ख प्राप्त हुआ है । ह्यूम के मतानुसार कुछ विचारको ने इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर दिया है । इन विचारको का मत है कि किसी व्यक्ति के प्रति हमारे मन मे प्रेम अथवा घृणा की उत्पत्ति के लिए यह अनिवार्य है कि उसने

(57) देखिए वही पुस्तक, पृ० 330 ।
(58) वही पुस्तक, पृ० 347 ।

जान-बूझ कर हमें सुख या दुःख पहुँचाया हो। परन्तु ह्यूम इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि "यदि किसी व्यक्ति में हमारे लिए सुखद अथवा दुखद गुण स्थायी रूप से विद्यमान है तो हमारे मन में उसके प्रति प्रेम अथवा घृणा अवश्य उत्पन्न होगी—फिर चाहे हमें सुख अथवा दुःख प्रदान करना उसका उद्देश्य हो या न हो। मेरा प्रश्न यह है कि क्या व्यक्ति के उद्देश्य को हटा देने से उसके प्रति प्रेम तथा घृणा का भी उन्मूलन हो जाता है। मैं यह निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि हमारे अनुभव का निर्णय इसके विपरीत है। यह एक निश्चित तथ्य है कि लोग प्रायः ऐसे आघातों के कारण भी अत्यधिक रुष्ट हो जाते हैं जिन्हें वे स्वयं अनैच्छिक तथा आकस्मिक मानते हैं।"[59] परन्तु प्रेम और घृणा के कारणों के सम्बन्ध में ह्यूम की उपर्युक्त मान्यता को स्वीकार करना बहुत कठिन प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि वस्तुतः हमारे मन में केवल ऐसे व्यक्ति के प्रति ही प्रेम अथवा घृणा की उत्पत्ति हो सकती है जो जान-बूझ कर हमें सुख या दुःख पहुँचाता है अथवा पहुँचाने का प्रयास करता है। यदि हम निश्चित रूप से यह जानते हैं कि किसी व्यक्ति से हमें जो सुख या दुःख प्राप्त हुआ है उसके लिए स्वयं उस व्यक्ति ने कोई प्रयास नहीं किया तो हमारे मन में उसके प्रति प्रेम अथवा घृणा की उत्पत्ति नहीं होगी। अकस्मात् घटित होने वाली सुखद या दुखद घटनाओं के कारण हम आनन्दित अथवा रुष्ट हो सकते हैं, किन्तु इन घटनाओं के फलस्वरूप हम किसी व्यक्ति के प्रति प्रेम या घृणा का अनुभव नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में ह्यूम की यह मान्यता उचित प्रतीत नहीं होती कि किसी व्यक्ति के प्रति प्रेम अथवा घृणा की उत्पत्ति के लिए स्वयं उस व्यक्ति द्वारा हमें सुख या दुःख पहुँचाने का प्रयास करना अनिवार्य नहीं है।

(3) दया और सहानुभूति—प्रेम तथा घृणा की भाँति दया और सहानुभूति को भी ह्यूम ने मानव-जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण मनोवेग माना है। प्रेम और घृणा के समान ही इन मनोवेगों के विषय अथवा पात्र भी स्वयं अनुभवकर्त्ता न होकर अन्य व्यक्ति ही होते हैं। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, ह्यूम दया और सहानुभूति को समानार्थक ही मानते हैं, इसी कारण उन्होंने इन दोनों मनोवेगों में कहीं भी अन्तर स्पष्ट नहीं किया। उनका मत है कि दया तथा सहानुभूति का सम्बन्ध प्रत्यक्षतः दूसरों के सुख-दुःख में है—अर्थात् हम दूसरों के सुख-दुःख के कारण स्वयं भी सुख-दुःख का अनुभव करते हैं।[60] परन्तु दया और सहानुभूति के स्वरूप के विषय में ह्यूम का यह मत उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इन दोनों मनोवेगों का सम्बन्ध दूसरों के सुख की अपेक्षा उनके दुःख से ही अधिक होता है। जब तक हम किसी

(59) वही पुस्तक, पृ० 348, 350।
(60) देखिये वही पुस्तक, पृ० 385, 389।

व्यक्ति से प्रेम न करते हो तब तक हम उसे सुखी देखकर सामान्यत सुख का अनुभव नही करते—हम उसके प्रति तटस्थ अथवा उदासीन ही रहते हैं। परन्तु यदि हमारे मन मे किसी व्यक्ति के प्रति क्रोध, घृणा अथवा ईर्ष्या न हो तो सामान्यत हम उसे कष्ट मे देखकर स्वय भी दु ख का अनुभव करते हैं—हम उसके प्रति तटस्थ या उदासीन नही रह पाते। दूसरो के दु ख के फलस्वरूप सामान्य परिस्थितियो मे हमे दु ख की जो अनुभूति होती है उसे ही 'दया' अथवा 'सहानुभूति' की सज्ञा दी जा सकती है। इसमे दूसरो के सुख से सुखी होने की अनुभूति सामान्यत निहित नही रहती। इस दृष्टि से 'दया' की परिभाषा करते हुए ह्यूम ने ठीक ही कहा है कि दूसरो के साथ मैत्री न होते हुए भी उनके दु ख मे स्वय दु ख का अनुभव करना ही 'दया' है। यही बात 'सहानुभूति' के विषय मे भी कही जा सकती है। इस प्रकार दूसरो का दु ख ही दया और सहानुभूति का मूल कारण है। दुखी व्यक्ति हमसे जितना अधिक सम्बन्धित तथा निकट होता है उसके प्रति सामान्य परिस्थितियो मे हम उतनी ही अधिक दया और सहानुभूति का अनुभव करते हैं। इसके अतिरिक्त देश, जाति, भाषा आदि की समानता भी दुखी व्यक्ति के प्रति हमारी दया और सहानुभूति मे वृद्धि करती है। परन्तु यदि हममे तथा दुखी व्यक्ति मे देश-काल की बहुत बडी दूरी है तो इस दूरी के कारण उसके प्रति हमारी दया और सहानुभूति मे कुछ कमी हो सकती है। इस प्रकार दूसरो के प्रति हमारी दया और सहानुभूति पर देश-काल सम्बन्धी निकटता तथा जाति, भाषा, वेष-भूषा आदि की समानता का पर्याप्त प्रभाव पडता है। यहा यह भी उल्लेखनीय है कि प्रेम के कारण दया और सहानुभूति मे वृद्धि होती है जबकि क्रोध, घृणा, ईर्ष्या, प्रतिशोध आदि मनोवेग हमारी दया तथा सहानुभूति को नष्ट कर देते है। परन्तु, जहा तक मुझे ज्ञात है, ह्यूम ने इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का उल्लेख नही किया। वे यह अवश्य कहते है कि दूसरो की पीडा के अनुपात के अनुसार ही हमारे मन मे उनके प्रति दया और सहानुभूति की वृद्धि होती है।

(4) **द्रोह और ईर्ष्या**—द्रोह और ईर्ष्या दया तथा सहानुभूति के ठीक विपरीत मनोवेग है। इन दोनो मनोवेगो की तुलना घृणा और क्रोध से की जा सकती है। घृणा और क्रोध की भाति द्रोह तथा ईर्ष्या भी हमे दूसरो को कष्ट पहुचाने के लिए प्रेरित करते हैं। इस दृष्टि से इन चारो मनोवेगो को विध्वसक मनोवेग माना जा सकता है। द्रोह के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए ह्यूम ने कहा है कि किसी व्यक्ति से शत्रुता न होते हुए भी उसे अकारण कष्ट पहुचा कर स्वय सुख का अनुभव करना 'द्रोह' है। यदि किसी व्यक्ति ने हमे हानि पहुचाई है तो उसके प्रति दुर्भावना रखना और उसे कष्ट पहुचाना 'प्रतिशोध' है, 'द्रोह' नही।[61] इस तथ्य को अस्वीकार नही किया जा सकता कि कुछ निर्दय व्यक्ति ऐसे होते हैं जो दूसरो

(61) देखिये वही पुस्तक, पृ० 369।

को अकारण ही कष्ट देकर स्वय सुख का अनुभव करते है। ऐसे ही क्रूर व्यक्तियो की दुर्भावनायुक्त इस मनोवृत्ति को ह्यूम न 'द्रोह' की सज्ञा दी है। वे द्रोह को ईर्ष्या से भिन्न मनोवेग मानते हैं। इन दोनो मनोवेगो का अन्तर स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि "ईर्ष्या अपने सुख के साथ किसी अन्य व्यक्ति के सुख की तुलना के फलस्वरूप उत्पन्न होती है जिसके कारण हमे अपना सुख उस व्यक्ति के सुख की अपेक्षा बहुत कम प्रतीत होने लगता है, किन्तु द्रोह स्वय सुख प्राप्त करने के लिए किसी अन्य व्यक्ति को अकारण ही कष्ट पहुचाने की इच्छा है।"[62] द्रोह के कारण व्यक्ति जिस सुख का अनुभव करता है वह दुखी व्यक्ति की दयनीय स्थिति के साथ अपनी स्थिति की तुलना के परिणामस्वरूप ही उत्पन्न होता है। परन्तु ईर्ष्या के कारण व्यक्ति स्वय सुख का अनुभव नही करता। इतना ही नही, ईर्ष्या के फलस्वरूप वह अपने उस सुख को भी खो देता है जो उसके मन मे ईर्ष्या की उत्पत्ति से पूर्व उसे प्राप्त था। स्पष्ट है कि ईर्ष्या मूलत दुखद मनोवेग है जबकि द्रोह के कारण व्यक्ति स्वय सुख का अनुभव करता है—फिर चाहे उसका यह सुख कितना ही निंदनीय क्यो न हो।

जहा तक मुझे ज्ञात है, ह्यूम ने मानव-मन मे द्रोह की उत्पत्ति का कोई कारण नही बताया, किन्तु उन्होने ईर्ष्या की उत्पत्ति के मूल कारण पर अवश्य विचार किया है। जैसा कि ऊपर सकेत किया जा चुका है, उनके मतानुसार मनुष्य के मन मे ईर्ष्या तभी उत्पन्न होती है जब वह किसी अन्य व्यक्ति के सुख के साथ स्वय अपने सुख की तुलना करता है और अपनी अपेक्षा उस व्यक्ति को अधिक सुखी तथा सफल समझता है। मनुष्य प्राय तुलनात्मक दृष्टि से ही प्रत्येक वस्तु तथा स्थिति का मूल्याकन करता है और इसी मूल्याकन के आधार पर वह सुख अथवा दुख का अनुभव करता है। जब वह अपने समान अथवा अपनी अपेक्षा कुछ अधिक उत्कृष्ट व्यक्ति को दुखी देखता है तो उसे सुख अथवा सतोष का अनुभव होता है। इसके विपरीत जब वह ऐसे व्यक्ति को अपनी अपेक्षा अधिक सुखी तथा सफल समझता है तो उसे दुख होता है और वह अपने वर्तमान सुख को भी नगण्य मानने लगता है। स्पष्ट है कि उसका यह दुख अधिक सुखी समझे जाने वाले व्यक्ति के प्रति उसकी ईर्ष्या का ही परिणाम होता है और उसके इस दुख मे ईर्ष्या के अनुपात के अनुसार ही वृद्धि होती जाती है। जिस व्यक्ति के प्रति हमारे मन मे ईर्ष्या उत्पन्न हो जाती है उसके प्रति हम प्रेम दया सहानुभूति आदि मनोवेगो का अनुभव नही कर सकते, अत इस दृष्टि से ईर्ष्या भी क्रोध, प्रतिशोध तथा घृणा की भाति विध्वसक मनोवेग है। यहा यह उल्लेखनीय है कि हमारे मन मे कुछ विशेष व्यक्तियो के प्रति ही ईर्ष्या उत्पन्न हो सकती है, सभी व्यक्तियो के प्रति नही। ईर्ष्या की उत्पत्ति के विषय मे इसी महत्त्वपूर्ण तथ्य को स्पष्ट करते हुए

(62) वही ग्रन्थ, पृ० 377।

ह्यूम ने कहा है कि हम केवल ऐसे व्यक्तियो के प्रति ही ईर्ष्या का अनुभव करते हैं जो लगभग हमारे समान अथवा हमारी अपेक्षा कुछ अधिक उच्च स्तर के हैं और जिनका कार्य-क्षेत्र हमारे कार्य-क्षेत्र से बहुत भिन्न नही है। यदि आयु या पद की दृष्टि से हममे तथा किसी अन्य व्यक्ति में बहुत अधिक असमानता है अथवा यदि उसका कार्य-क्षेत्र हमारे कार्य-क्षेत्र से पूर्णत भिन्न है तो उसके प्रति हमारे मन मे ईर्ष्या उत्पन्न नही होगी। यही कारण है कि हम जिन व्यक्तियो को बहुत तुच्छ या अत्यधिक महान् समझते हैं अथवा जिनके कार्य-क्षेत्र का हमारे कार्य-क्षेत्र से कोई सम्बन्ध नही है उनके प्रति हम ईर्ष्या का अनुभव नही करते। वस्तुत ऐसे व्यक्तियो के साथ हम अपनी तुलना नही करते और इसी कारण उनके प्रति हमारे मन मे ईर्ष्या उत्पन्न नही होती। इसी तथ्य को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए ह्यूम ने कहा है कि "कोई कवि किसी दार्शनिक से अथवा भिन्न राष्ट्र या भिन्न युग के कवि से ईर्ष्या नही करता।"[63] वस्तुत. हमारा व्यावहारिक अनुभव ईर्ष्या के विषय मे ह्यूम के इस मत की पुष्टि करता है। यह अनुभव सिद्ध तथ्य है कि प्राय एक ही व्यवसाय मे कार्य करने वाले लगभग समान आयु तथा स्तर के व्यक्ति ही एक-दूसरे के प्रति ईर्ष्या का अनुभव करते हैं। इसी कारण एसे व्यक्तियो मे पारस्परिक स्नेह तथा सौहार्द्र का प्राय अभाव ही दृष्टिगोचर होता है। ईर्ष्या के सम्बन्ध मे ह्यूम ने इस तथ्य का भी उल्लेख किया है कि हम अपनी अपेक्षा निम्न स्तर के व्यक्तियो को बहुत शीघ्र उन्नति करते हुए देखकर उनसे भी ईर्ष्या करने लगते हैं। इसका कारण यह है कि ऐसे व्यक्तियो को द्रुत गति से होने वाली उन्नति हममे तथा उनमे विद्यमान उस दूरी को कम कर देती है जिसके फलस्वरूप हम अपने आप को उनकी अपेक्षा उत्कृष्ट समझते है। इस दूरी के कम होने के परिणामस्वरूप उन व्यक्तियो की तुलना मे हमारी उत्कृष्टता कम होने लगती है और इसी कारण हम उनके प्रति ईर्ष्या का अनुभव करने लगते है। अपने आपको उत्कृष्ट मानने वाले व्यक्ति इसी ईर्ष्या से प्रेरित होकर उन व्यक्तियो की प्रगति मे यथासम्भव अधिकाधिक बाधा डालते हैं जिन्हे वे अपनी अपेक्षा निम्न स्तर का समझते है। इस प्रकार की ईर्ष्या को भी हमारा व्यावहारिक अनुभव प्रमाणित करता है।

(5) आशा और आशका—उपर्युक्त मनोवेगो की भाति आशा और आशका का भी मानव-जीवन में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। ह्यूम के मतानुसार सुख-दुख की अनिश्चित सम्भावना ही इन दोनो मनोवेगो का मूल कारण है। जब मनुष्य के समक्ष भविष्य मे सुख-प्राप्ति अथवा दुख-प्राप्ति की अनिश्चित सम्भावना होती है तभी उसके मन मे आशा या आशका की उत्पत्ति होती है। सुख अथवा दुख प्राप्त होने की इस अनिश्चित सम्भावना के अनुसार ही आशा या आशका मे भी कमी अथवा वृद्धि होती है। ह्यूम का कथन है कि जब भविष्य मे मनुष्य के लिए किसी

(63) वही पुस्तक, पृ० 378।

सुखद अथवा दुखद वस्तु की प्राप्ति निश्चित होती है तो इससे उसके मन मे सुख या दु ख उत्पन्न होता है, परन्तु जब सुखद वस्तु या दुखद वस्तु की प्राप्ति अनिश्चित होती है तो इसके कारण वह आशा अथवा आशका का अनुभव करता है।[64] वह नही जानता कि उसे सम्भावित सुख या दु ख प्राप्त होगा अथवा नही, इसी कारण उसके मन मे आशा अथवा आशका बनी रहती है। यह समझना कठिन नही है कि आशा सुखद तथा आशका दुखद मनोवेग है, अतः मनुष्य यथासम्भव आशा बनाये रखना चाहता है और आशका से मुक्त होना चाहता है।

ह्यूम का मत है कि सामाजिक प्राणी होने के कारण ही मनुष्य समस्त मनोवेगो का अनुभव करता है, यदि वह अकेला रहे तो उसके मन मे इन मनोवेगो की उत्पत्ति नही होगी। इस प्रकार सामाजिक सम्बन्ध समस्त मनोवेगो की उत्पत्ति की अनिवार्य शर्त है। अपने इसी मत को स्पष्ट करते हुए ह्यूम ने लिखा है कि "हमारे मन मे ऐसी कोई इच्छा नही हो सकती जिसका समाज से सम्बन्ध न हो। पूर्ण अकेलापन हमारे लिए शायद सबसे बडा दड है। दूसरो के सहयोग के बिना प्रत्येक सुख व्यर्थ तथा प्रत्येक दु ख और अधिक असह्य हो जाता है। ` किसी एक व्यक्ति की सेवा मे प्रकृति के समस्त साधनो के उपस्थित होने पर भी वह तब तक अत्यत दुखी रहेगा जब तक उसे कम से कम एक ऐसे व्यक्ति का सग न मिल जाये जिसके साथ वह अपना सुख बाट सके और जिसकी मैत्री का वह आनद प्राप्त कर सके।"[65] इस प्रकार ही सामाजिक सम्बन्ध ही मनोवेगो का अनिवार्य आधार है।

□ □ □

(64) देखिये वही पुस्तक, पृ० 439, 443, 444।
(65) वही पुस्तक, पृ० 363।

भाग–3

नैतिक दर्शन

(16) नैतिक दर्शन की पृष्ठभूमि

मनोवेगो के स्वरूप तथा महत्त्व के विषय मे ह्यूम के मत का विवेचन करने के पश्चात् अब उनके नैतिक दर्शन के कुछ प्रमुख सिद्धान्तो पर विचार करना आवश्यक है जो मूलत भावनाओ अथवा मनोवेगो पर ही आधारित हैं। यहा यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि प्राचीन काल से वतमान युग तक पाश्चात्य नैतिक दशन के इतिहास मे एक ओर बुद्धिवादी विचारधारा तथा दूसरी ओर भावनामूलक विचारधारा के समर्थको मे प्राय सघर्ष चलता रहा है। प्रथम विचारधारा के अनुसार समस्त नैतिक प्रत्यय तथा निणय मनुष्य की तकबुद्धि पर ही आधारित होते हैं और नैतिक आचरण के क्षेत्र मे यह तर्कबुद्धि ही उसका मागदशन करती है। इस विचारधारा मे मनुष्य की भावनाओ, मूलप्रवृत्तियो, इच्छाओ तथा उसके मनोवेगो को नैतिक आचरण की दृष्टि से अधिक महत्त्व नही दिया गया और उसकी तकबुद्धि को प्रधान मानकर इन सबको उसके नियन्त्रण मे रखना आवश्यक माना गया है। पश्चिमी दर्शन के विकास के प्रारम्भिक काल मे सुकरात प्लेटो, अरस्तू आदि महान् यूनानी विचारको ने तथा सत्रहवी और अठारहवी शताब्दी मे कडवर्थ, क्लार्क, वोलेस्टन, रीड, प्राइस, स्पिनोजा, कान्ट आदि दार्शनिको ने किसी न किसी रूप मे इसी बुद्धिवादी विचारधारा का समर्थन किया है। इस विचारधारा के विपरीत भावनामूलक विचारधारा के समर्थक मनुष्य की तर्कबुद्धि को गौण मान कर नैतिक आचरण के लिए उसकी भावनाओ, स्वाभाविक वृत्तियो तथा उसके मनोवेगो को ही अधिक महत्त्व देते रहे हैं। पेरिस्टिपस, ऐपिक्यूरस, सेंट फ्रान्सिस, शैफ्टसबरी, हचिसन, बैन्थम, मिल, वैस्टरमार्क, आदि विचारको ने नैतिक आचरण की दृष्टि से मनुष्य का मार्गदशन करने के लिए किसी न किसी रूप मे इस भावनामूलक विचार-धारा को ही स्वीकार किया है। इन विचारको का मत है कि हमारे नैतिक प्रत्ययो एव निणयो का मूल आधार हमारी तर्कबुद्धि न होकर भावना अथवा अनुभूति ही है जिससे प्रेरित होकर हम समस्त कर्म करते हैं। तर्कबुद्धि का कार्य भावनाओ या मनोवेगो को नियन्त्रित करना नही अपितु उनके द्वारा निर्धारित लक्ष्यो की पूर्ति मे हमारी सहायता करना ही है। इस प्रकार इन विचारको के मतानुसार नैतिक आचरण की दृष्टि से मनुष्य की तर्कबुद्धि वास्तव मे उसकी भावना अथवा अनुभूति की सेविका मात्र है।

ह्यूम ने भी बुद्धिवादी विचारधारा के विपरीत इसी भावनामूलक विचारधारा का प्रवल समर्थन किया है। यह कहना शायद अनुचित न होगा कि उनके नैतिक दर्शन मे ही इस विचारधारा का पूर्ण विकास हुआ है। उनके नैतिक दर्शन पर शैफ्ट्सबरी तथा हचिसन के विचारो का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। नॉरमन, कैम्प-स्मिथ ने अनेक प्रमाणो द्वारा अपने इस मत की पुष्टि की है कि नैतिक आचरण सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय ह्यूम प्राय हचिसन से परामर्श लेते रहते थे और हचिसन के विचारो से प्रभावित होकर उन्होंने तर्कबुद्धि के स्थान पर भावना को ही नैतिक निर्णयो का मूल आधार स्वीकार किया।[66] वस्तुत स्वय ह्यूम ने भी स्पष्टत यह स्वीकार किया है कि उनके नैतिक दर्शन पर हचिसन के भावना-प्रधान नैतिक सिद्धान्त का बहुत प्रभाव पडा है। अपने नैतिक दर्शन पर हचिसन के विचारो के प्रभाव का उल्लेख करते हुए उन्होने लिखा है कि "श्री हचिसन ने अनेक विश्वसनीय तर्कों द्वारा हमे यह सिखाया है कि नैतिकता वस्तुओ के अमूर्त स्वभाव मे निहित न होकर व्यक्ति की भावना से ही सम्बद्ध रहती है। जिस प्रकार मीठा-कडवा, ठडा-गर्म आदि व्यक्तिविशेष के स्वाद एव स्पर्श से सम्बन्धित हैं उसी प्रकार नैतिकता का सम्बन्ध भी व्यक्तिविशेष की भावनाओ से ही होता है, अत नैतिकता को बौद्धिक न मानकर भावनाप्रधान ही मानना चाहिये।"[67] हम अगले खण्डो मे देखेंगे कि हचिसन की भाति ह्यूम ने भी मनुष्य के समस्त नैतिक प्रत्ययो तथा निर्णयो को तर्कबुद्धि पर आधारित न मान कर भावनाओ अथवा मनोवेगो पर ही आधारित माना है। इसके अतिरिक्त वे सुखवाद एव उपयोगितावाद का पूर्णत समर्थन करते हैं और नैतिकता को स्वत साध्य न मान कर व्यक्ति के सुख तथा समाज के कल्याण का साधन मात्र मानते हैं। उनके नैतिक दर्शन मे व्यक्तिनिष्ठावाद, सवेगवाद आदि कुछ समकालीन अधिनीतिशास्त्रीय सिद्धातो का भी पूर्वाभास प्राप्त होता है। इसी कारण एयर, स्टीवैन्सन आदि सवेगवादियो ने ह्यूम के नैतिक दर्शन को अपने सवेगवाद का प्रेरणा-स्रोत माना है। इन सभी तथ्यो से यह स्पष्ट हो जाता है कि नैतिक दर्शन के क्षेत्र मे ह्यूम के विचारो का व्यापक प्रभाव पडा है। यही कारण है कि आज दो सौ वर्ष से अधिक समय व्यतीत हो जाने पर भी ह्यूम के नैतिक दर्शन के अध्ययन को बहुत महत्त्व दिया जा रहा है। उन्होने अपने नैतिक सिद्धान्त का प्रतिपादन 1739-40 मे प्रकाशित 'ए ट्रिटाइज आफ ह्यूमन नेचर' तथा 1751 मे प्रकाशित 'ऐन इन्क्वायरी कन्सरनिंग दि प्रिन्सिपल्ज आफ मारल्ज' मे किया है। हम अगले खडो मे इन्ही दो पुस्तको के आधार पर उनके नैतिक दर्शन का विवेचन करेंगे।

(17) बुद्धिवाद का खडन

जैसा कि पिछले खड मे बताया गया है, ह्यूम बुद्धिवादी विचारधारा के

(66) नॉरमन, कैम्प-स्मिथ, 'दि फिलासफी आफ डेविड ह्यूम,' पृ० 12।
(67) डेविड ह्यूम 'ऐन इन्क्वायरी कन्सर्निंग ह्यूमन अडरस्टैंडिंग', पृ० 10।

विरुद्ध भावनामूलक विचारधारा के दृढ समर्थक हैं । उन्होने नैतिक दर्शन के क्षेत्र मे कडवर्थ, क्लार्क आदि बुद्धिवादी दार्शनिको द्वारा प्रतिपादित बौद्धिक अत प्रज्ञावाद का खडन करके यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि मनुष्य के सम्पूर्ण नैतिक आचरण की मूल प्रेरणा तर्कबुद्धि नही अपितु भावना अथवा अनुभूति ही हो सकती है । बुद्धिवादी दार्शनिक यह मानते थे कि समस्त नैतिक निर्णय तर्कबुद्धि पर आधारित होने के कारण गणित सम्बन्धी निर्णयों के समान ही अनुभवनिरपेक्ष तथा अपरिवर्तनशील होते है और बौद्धिक अन्त प्रज्ञा द्वारा ही मनुष्य को उसके कर्मो के औचित्य एव अनौचित्य का अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है । पूर्णत वस्तुनिष्ठ एव निर्वैयक्तिक होने के कारण ये नैतिक निर्णय मनुष्य की भावनाओ तथा इच्छाओ द्वारा प्रभावित नही होते । प्रतिज्ञा भग करना, झूठ बोलना, चोरी करना आदि कर्मो मे वैसा ही तार्किक स्वतोव्याघात है जैसा दो और दो को चार न मानने अथवा दो पूर्णतया समान रेखाओ को समान स्वीकार न करने मे है । इस प्रकार बुद्धिवादी दार्शनिको के मतानुसार मनुष्य के कर्मों का औचित्य एव अनौचित्य उसकी इच्छाओ तथा भावनाओ पर निर्भर न होकर इन कर्मो के स्वभाव मे ही निहित रहता है, अत इनसे सम्बद्ध नैतिक निर्णय उसके मनोवेगो द्वारा प्रभावित नही होते ।

बुद्धिवादियो के इस मत को अस्वीकार करते हुए ह्यूम ने कहा है कि हमारे कर्म तर्कबुद्धि द्वारा प्रेरित नही होते, अत उसे नैतिक निर्णयो का आधार अथवा प्रेरणा स्रोत नही माना जा सकता । यद्यपि उन्होने तर्कबुद्धि की कोई स्पष्ट एव निश्चित परिभाषा नही दी, फिर भी इस सम्बन्ध मे उनके विचारो का अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि वे तर्कबुद्धि को प्रत्ययो के सम्बन्धो तथा अनुभवाश्रित तथ्यो के ज्ञान तक ही सीमित मानते हैं । उनका मत है कि तर्कबुद्धि द्वारा हमे गणित एव तर्कशास्त्र के अमूर्त प्रत्ययो के सम्बन्धो तथा विज्ञान और दैनिक जीवन से सम्बन्धित अनुभवजन्य तथ्यो का ज्ञान होता है । यह तर्कबुद्धि हमे कोई कर्म करने या न करने के लिए प्रेरित नही कर सकती और न ही यह हमारे मनोवेगो को परिवर्तित अथवा नियन्त्रित कर सकती है । हमारी भावनाए अथवा इच्छाए ही हमारे कर्मो की मूल अभिप्रेणाए हैं और वे ही हमारे समस्त लक्ष्यो को निर्धारित करती हैं । इस दृष्टि से तर्कबुद्धि नितान्त निष्क्रिय है, अत उसे नैतिक आचरण का आधार नही माना जा सकता । तर्कबुद्धि के विषय मे अपने इसी मत को स्पष्ट करते हुए ह्यूम ने लिखा है कि "नैतिक प्रत्यय अथवा निर्णय हमे कर्म करने या न करने के लिए प्रेरित करते हैं । तर्कबुद्धि इस कार्य मे पूर्णत असमर्थ है अत नैतिकता सम्बन्धी नियम हमारी तर्कबुद्धि के परिणाम नही हैं । यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि तकबुद्धि का हमारे मनोवेगो तथा कर्मों पर कोई प्रभाव नही पडता तो इस बात का दिखावा करना व्यर्थ है कि नैतिकता का ज्ञान तर्कबुद्धि पर ही निभर है । · शुभ-अशुभ सम्बन्धी नैतिक प्रत्ययो की उत्पत्ति तर्कबुद्धि से नही होती । तर्कबुद्धि पूर्णतया निष्क्रिय है, अत कर्मो के प्रेरक नैतिक प्रत्ययो अथवा निर्णयो का उससे उद्गम नही हो

नैतिकता का स्रोत या मूल आधार है। हाब्स आदि स्वार्थवादियो के विरुद्ध उनका कथन है कि यह परोपकारवृत्ति अथवा मानवता की भावना मनुष्य के लिए उतनी ही स्वाभाविक है जितनी अपने सुख की कामना। इसी नैसर्गिक परोपकारवृत्ति के कारण हम दूसरो के लिए सुखद कर्म के प्रति अनुमोदन तथा उनके लिए दुखद कर्म के प्रति अननुमोदन की भावना का अनुभव करते हैं। परोपकारवृत्तिजन्य यह अनुमोदन की भावना ही कर्मों के शुभत्व का आधार है। शुभ कर्म वह है जिसके प्रति सभी या अधिकतर व्यक्ति अनुमोदन की भावना का अनुभव करते है और अशुभ कर्म वह है जिसके प्रति सभी अथवा अधिकतर व्यक्ति अननुमोदन की भावना का अनुभव करते हैं। इस प्रकार कर्मों का शुभत्व तथा अशुभत्व स्वय उनमे निहित न होकर मानवीय भावनाओ पर ही आधारित रहता है। इसी स्वाभाविक परोपकारवृत्ति के कारण हम दूसरो के सुख दुःख के प्रति उदासीन नही रह सकते, सामान्य परिस्थितियो मे हम उनके सुख से सुखी तथा दुःख से दुखी होते हैं। इसी परोपकारवृत्ति अथवा मानवता की भावना को नैतिकता का मूल आधार मानते हुए ह्यूम ने कहा है कि "इस बात को अस्वीकार करना सम्भव प्रतीत नही होता कि परोपकारवृत्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ भी मनुष्य को महानता प्रदान नही कर सकता और कम से कम अशत यह महानता मानव-जाति के हितो की वृद्धि करने तथा मानव-समाज का कल्याण करने की इच्छा पर निर्भर होती है। यद्यपि यह मानवता की भावना अभिमान एव महत्वाकाक्षा के समान प्रबल नही मानी जाती फिर भी सभी व्यक्तियो मे विद्यमान होने के कारण केवल यही भावना नैतिकता की आधारशिला हो सकती है। जो आचरण मुझमे विद्यमान मानवता की भावना के कारण मेरा अनुमोदन प्राप्त करता है वही आचरण अन्य सभी व्यक्तियो मे विद्यमान इसी भावना के कारण उनका भी अनुमोदन प्राप्त कर लेता है।[70] इस प्रकार स्पष्ट है कि ह्यूम तर्कबुद्धि के स्थान पर मनुष्य की नैसर्गिक परोपकारवृत्ति को ही नैतिकता की आधार-भूमि मानते हैं।

(18) सुखवाद और उपयोगितावाद

ह्यूम ने समस्त नैतिक सद्गुणो की व्याख्या सुखवाद तथा उपयोगितावाद के आधार पर ही की है। अन्य महान् विचारको की भाति वे भी मनुष्य के लिए सद्गुणो के महत्त्व को स्वीकार करते हैं, किन्तु कुछ बुद्धिवादी दार्शनिको के विपरीत उनका मत है कि ये सद्गुण स्वत साध्य अथवा अपने आप मे महत्त्वपूर्ण न होकर व्यक्ति के सुख अथवा सामाजिक कल्याण के साधन के रूप मे ही महत्वपूर्ण है। नैतिक आचरण की दृष्टि से हम ईमानदारी, सत्यता, पवित्रता, मैत्री, विनयशीलता, उदारता, सयम, न्याय आदि सद्गुणो को बहुत आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण मानते हैं और ऐसे व्यक्ति की प्रशसा करते हैं जो सदैव इन सभी अथवा इनमे से कुछ सद्गुणो

(70) डेविड ह्यूम 'ऐन इन्क्वायरी कन्सर्निंग दि प्रिन्सिपल्ज ऑफ मारल्ज', पृ० 14, 111, 112।

प्रत्येक कर्म प्रत्यक्षत हमारा अनुमोदन प्राप्त करता है। वास्तव मे इसी सिद्धान्त के आधार पर अधिकाशत नैतिकता की व्याख्या की जा सकती है।"[72] इस प्रकार सामाजिक उपयोगिता के आधार पर नैतिकता की उत्पत्ति की व्याख्या करके ह्यूम ने उस उपयोगितावाद की आधारशिला स्थापित की जिसका बाद मे वेन्थम, मिल, सिजविक आदि अनेक महान् दार्शनिको ने प्रबल समर्थन किया। ऐसी स्थिति मे उन्हे सुखवाद तथा उपयोगितावाद का प्रमुख समर्थक मानना उचित एव युक्तिसगत ही प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध मे उन बुद्धिवादी दार्शनिको से ह्यूम का तीव्र मत-भेद बिल्कुल स्पष्ट है जो सुखवाद तथा उपयोगितावाद का खडन करते हुए कर्तव्य और नैतिकता को स्वत साध्य मानते है। परन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं, 'कर्तव्य के लिये कर्तव्य' के इस सिद्धान्त को अस्वीकार करके ह्यूम ने समस्त सद्गुणो तथा नैतिकता को व्यक्ति एव समाज के सुख का साधन मात्र माना है और इसी उप-योगितावादी सिद्धान्त के आधार पर उनके महत्व को स्पष्ट किया है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ह्यूम तर्कबुद्धि के स्थान पर सहानुभूति को ही इस उपयोगितावाद का आधार मानते है। उनका विचार है कि मनुष्य तर्कबुद्धि से नही, अपितु सहानुभूति से प्रेरित होकर ही अपने सुख के साथ-साथ दूसरो के सुख का ध्यान रखता है। इस स्वाभाविक सहानुभूति के कारण ही हम दूसरो के सुख-दु ख के प्रति उदासीन नही रह सकते, हम उनके कष्ट मे स्वय दु ख का अनुभव करते हैं और इसी कारण उनके कष्ट को दूर करके इन्हे सुख पहुचाने का प्रयास करते हैं। इसका अभिप्राय यही है कि सामाजिक कल्याण के लिए हम जो प्रयास करते हैं उसका मूल आधार ह्यूम के मतानुसार बौद्धिक न होकर भावनात्मक ही है। मनुष्य के भीतर जो नैसर्गिक सहानुभूति है उसी के कारण वह अपने सुख-दु ख तक ही सीमित होकर पूर्णत स्वार्थवादी नही रह सकता। इसी सहानुभूति को सामाजिक कल्याण के प्रयास की मूल प्रेरणा स्वीकार करते हुए ह्यूम ने लिखा है कि "सहानुभूति के कारण ही हम समाज की इतनी अधिक चिन्ता करते है और यह सहानुभूति ही हमे अपने अह से बाहर निकाल कर दूसरो के सुख-दु ख को स्वयं अपने सुख-दु ख के रूप मे अनुभव करने के लिए हमे प्रेरित करती है।"[73] स्पष्ट है ह्यूम के मतानुसार यदि मनुष्य मे यह स्वाभाविक सहानुभूति न होती तो वह पूर्णत आत्मकेन्द्रित हो जाता और दूसरो के सुख-दु ख की चिन्ता न करता। इस प्रकार उनका उपयोगितावाद मनुष्य की तर्कबुद्धि पर आधारित न होकर उसकी सहानुभूति पर ही आधारित है।

यहाँ इस तथ्य का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि ह्यूम नैतिक दर्शन के क्षेत्र मे बुद्धिवाद के साथ-साथ उस धार्मिक विचारधारा का भी पूर्णत अस्वीकार करते हैं जिसके अनुसार हमारे कर्तव्यो का निर्धारण तथा कर्मो का शुभत्व या अशुभत्व

(72) डेविड ह्यूम, 'ऐन इन्क्वायरी कसरनिंग दि प्रिन्सिपल्ज ऑफ मारल्ज', पृ० 52, 54।
(73) डेविड ह्यूम, 'ए ट्रिटाइज ऑफ ह्यूमन नेचर', बुक 3, पृ० 579।

न्याय और मानव-सुख को समान महत्त्व देते हैं। वस्तुत न्याय के अनुसार किये गये आचरण को हम इसलिए नैतिक दृष्टि से प्रशसनीय मानते हैं कि यह अन्तत समाज के सुख अथवा हित मे सहायक सिद्ध होता है। ऐसी स्थिति मे हमारे लिए न्याय तथा मानव-सुख का समान महत्त्व नही हो सकता, क्योकि न्याय मानव-सुख का साधन मात्र है और इसी मे उसकी सार्थकता निहित है। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि न्यायशीलता, कर्त्तव्यनिष्ठा और अन्य नैतिक सद्‌गुणो के महत्त्व के सम्बन्ध मे ह्यूम का उपयोगितावादी दृष्टिकोण ही अधिक युक्तिसगत प्रतीत होता है।

(20) तथ्यो से कर्त्तव्य के निगमन की समस्या

नैतिक प्रत्ययो तथा सद्‌गुणो के सम्बन्ध मे ह्यूम की कुछ आधारभूत मान्यताओ का विवेचन करने के पश्चात् अब यहा उस महत्त्वपूर्ण दार्शनिक समस्या पर विचार करना आवश्यक है जो स्वय ह्यूम ने उठाई है और जिस पर समकालीन नीतिशास्त्रियो मे तीव्र विवाद चलता रहा है। यह समस्या इस जटिल प्रश्न से सम्बद्ध है कि क्या केवल तथ्यो से हम नैतिक कर्त्तव्य का निगमन कर सकते हैं। दूसरे शब्दो मे, प्रश्न यह है कि यदि हमे कुछ तथ्यो का ज्ञान हो जाये तो केवल इस तथ्यात्मक ज्ञान के आधार पर क्या हम तार्किक दृष्टि से यह निगमित कर सकते हैं कि हमे क्या करना चाहिये। इस सम्बन्ध मे ह्यूम द्वारा लिखित एक अनुच्छेद की विभिन्न समकालीन नीतिशास्त्रियो ने भिन्न-भिन्न व्याख्याए की है। ह्यूम के इस सुविख्यात और विवादास्पद अनुच्छेद का साराश इस प्रकार है। सभी नैतिक सिद्धान्तो का प्रारम्भ कुछ विशेष तथ्यो के आधार पर ही होता है जो मूल्य सम्बन्धी निर्णय नही होते। सामान्यत ये तथ्य हमे ईश्वर अथवा मानव-स्वभाव के सम्बन्ध मे वर्णनात्मक ज्ञान प्रदान करते हैं। ये हमे बताते हैं कि मानव-स्वभाव कैसा है और मनुष्य वास्तव मे क्या सोचते तथा करते हैं। इन तथ्यो का वर्णन करके इन्ही के आधार पर नैतिक सिद्धान्तो के प्रणेता हमे बताते हैं कि हमे क्या करना चाहिए और क्या नही करना चाहिए। इस प्रकार कुछ तथ्यो से ही हमारे कर्त्तव्यो का निगमन किया जाता है। परन्तु तथ्यो से कर्त्तव्य के इस निगमन को समझना बहुत कठिन है, क्योकि कर्त्तव्य सम्बन्धी निर्णय तथ्यात्मक निर्णयो से बिल्कुल भिन्न होते है। ऐसी स्थिति मे असम्भव प्रतीत होने वाले इस निगमन की ठीक-ठीक व्याख्या करना तथा युक्तिसगत रूप से यह स्पष्ट करना बहुत आवश्यक है कि किस आधार पर तथ्यो से कर्त्तव्य को निगमित किया जाता है जिसका स्वरूप तथ्यो के स्वरूप से पूर्णत भिन्न होता है।"[77]

ह्यूम के उपर्युक्त अनुच्छेद का समकालीन नैतिक दर्शन मे विशेष महत्त्व है, क्योकि अनेक महान् नीतिशास्त्रियो ने इसी के आधार पर अपने नैतिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन अथवा समर्थन किया है। उदाहरणार्थ अन्त प्रज्ञावाद सवेगवाद, परामर्श-

(77) डेविड ह्यूम 'ए ट्रिटाइज आफ ह्यूमन नेचर', बुक 3, पृ० 469, 470।

वाद आदि विभिन्न सिद्धान्तो के प्रणेताओ ने इसी अनुच्छेद को मूल आधार मान कर अपने-अपने नैतिक सिद्धान्तो की पुष्टि करने का प्रयास किया है। मूर, रॉस, प्रिचर्ड एयर, स्टीवैन्सन, प्रायर नावेलस्मिथ, हेयर आदि दार्शनिक निश्चित रूप से यह मानते हैं कि इस अनुच्छेद द्वारा ह्यूम ने इस बात को पूर्णत प्रमाणित कर दिया है कि तार्किक दृष्टि से केवल तथ्यो से कर्त्तव्यो को निगमित नही किया जा सकता। दूसरे शब्दो मे, हम केवल तथ्यात्मक ज्ञान के आधार पर कर्त्तव्य का ज्ञान प्राप्त नही कर सकते। इसी बात को सक्षेप मे यो कहा जाता है कि 'है' से 'चाहिए' का निगमन तार्किक दृष्टि से असम्भव है। हम ईश्वर, विश्व अथवा मानव स्वभाव के विषय मे चाहे कितने ही तथ्यो का ज्ञान प्राप्त क्यो न कर लें, इस सम्पूर्ण ज्ञान के आधार पर हम यह नही जान सकते कि हमे क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। इसका कारण यह है कि तथ्यो के ज्ञान की प्राप्ति और कर्त्तव्य-निर्धारण मे कोई अनिवार्य तथा तार्किक सम्बन्ध नही है। ऊपर जिन दार्शनिको के नामो का उल्लेख किया गया है वे सभी इसी मत को स्वीकार करते है और यह मानते है कि ह्यूम ने ही सर्वप्रथम कर्त्तव्य-निर्धारण को तथ्यात्मक ज्ञान से पूर्णत भिन्न प्रमाणित किया। ये सभी दार्शनिक ह्यूम के इसी मत के आधार पर प्रकृतिवाद का खडन करते है जिसके अनुसार अनुभवाश्रित तथ्यो द्वारा ही नैतिक प्रत्ययो को परिभाषित किया जा सकता है। प्रकृतिवादियो के इस मत के विरुद्ध सभी अन्त प्रज्ञावादियो, सवेगवादियो तथा परामर्शवादियो का कथन है कि तथ्यात्मक वाक्यो से नैतिक निर्णयो को निगमित करने का प्रयास बहुत बडी भूल है, अत इस सम्बन्ध मे ह्यूम का मत पूर्णत उचित एव युक्तिसगत है।

परन्तु एयर, स्टीवैन्सन, नावेलस्मिथ, हेयर आदि दार्शनिको ने नैतिक निर्णयो के स्वरूप तथा कर्त्तव्य-निर्धारण के सम्बन्ध मे ह्यूम के अनुच्छेद की जो व्याख्या की है उसे कुछ दार्शनिक स्वीकार नही करते। इस सम्बन्ध मे जी हन्टर, ए सी मैकिन्टायर, जे० आर० सर्ल आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हन्टर का कथन है कि तथ्यात्मक वाक्यो तथा नैतिक निर्णयो मे दूरी को प्रमाणित करने के स्थान पर ह्यूम ने इन दोनो को एक ही मानकर इनका भेद ही समाप्त कर दिया है।[78] हन्टर के मतानुसार ह्यूम ने केवल यही कहा था कि तथ्यात्मक वाक्यो से नैतिक निर्णयो का निगमन असम्भव प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव मे यह असम्भव नही है। ह्यूम यही कहना चाहते थे कि तथ्यात्मक वाक्यो और नैतिक निर्णयो मे कोई अन्तर नही है। मैकिन्टायर हन्टर के इस मत को तो स्वीकार नही करते कि ह्यूम के विचार मे तथ्यात्मक वाक्यो और नैतिक निर्णयो मे कोई भेद नही है, किन्तु वे यह मानते हैं कि ह्यूम ने इन दोनो के भेद को स्पष्ट करके उसे समाप्त करने का सफल प्रयास किया है। मैकिन्टायर का कथन है कि ह्यूम ने तथ्यात्मक वाक्यो तथा

(78) देखिये, जी हन्टर, "ह्यूम आन 'इज' एँड आट'," 'फिलासफी', 1963, पृ० 150।

नैतिक निर्णयो मे अलघ्य दूरी को प्रमाणित करने के स्थान पर मानवीय आवश्यकताओ एव इच्छाओ द्वारा इन दोनो के अनिवार्य सम्बन्ध को भलीभाति स्पष्ट किया है। ह्यूम ने यह सिद्ध किया है कि जो कुछ अतत समाज के हित मे सहायक है वही हमारा कर्त्तव्य है—अर्थात् कोई कर्म हमारा कर्त्तव्य है या नही इस बात का निर्णय इसी तथ्य के आधार पर किया जा सकता है कि वह अतत समाज के हित मे वृद्धि करता है अथवा नही। तथ्यात्मक वाक्यो तथा नैतिक निर्णयो की अनिवार्य दूरी के सम्बन्ध मे स्टीवैन्सन, हेयर आदि के मत को अस्वीकार करते हुए मैकिन्टायर ने लिखा है कि "यदि ह्यूम वास्तव मे तथ्यात्मक वाक्यो से कर्त्तव्य सम्बन्धी वाक्यो का निगमन असम्भव मानते हैं तो यह असम्भव कार्य सर्वप्रथम स्वय उन्होने ही किया है। यदि वे नैतिक निर्णयो को तथ्यो से असम्बद्ध मानते तो यह बडी विचित्र बात होती। ह्यूम ने यह स्पष्ट कहा है कि उनका यह विश्वास है कि तथ्यो द्वारा नैतिक नियमो को उचित या अनुचित सिद्ध किया जा सकता है। उनका स्पष्ट कथन है कि न्याय सम्बन्धी नियमो का औचित्य इसी बात मे निहित है कि उनका पालन करना अतत प्रत्येक व्यक्ति के हित मे है। हमे इन नियमो के अनुरूप आचरण करना चाहिए, क्योकि ऐसा करने से प्रत्येक व्यक्ति को हानि की अपेक्षा लाभ अधिक होता है। परन्तु ह्यूम का यह कथन तथ्यो से कर्त्तव्य को प्राप्त करना है। यदि हेयर, नावेलस्मिथ और प्रायर ने ह्यूम के मत की ठीक-ठीक व्याख्या की है तो ह्यूम स्वय ही अपने निषेध का उल्लघन कर रहे है। हम इच्छा, आवश्यकता सुख, स्वास्थ्य आदि ऐसे प्रत्ययो की लम्बी सूची दे सकते है जो तथ्यो और कर्त्तव्यो मे सम्बन्ध स्थापित करते हैं। मेरे विचार मे यह कहने का प्रबल कारण है कि इन प्रत्ययो के अभाव मे नैतिक प्रत्ययो को नही समझा जा सकता।[79] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि मैकिन्टायर के मतानुसार ह्यूम तथ्यो एव कर्त्तव्यो मे अलघ्य दूरी के स्थान पर अनिवार्य सम्बन्ध स्वीकार करते हैं, क्योकि उनके विचार मे कर्त्तव्य तथ्यो पर ही आधारित रहते हैं।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि ह्यूम के अनुच्छेद की उपर्युक्त परस्पर विरोधी व्याख्याओ मे से कौन-सी व्याख्या उचित एव युक्तिसगत है। वस्तुत इस प्रश्न का कोई स्पष्ट और निश्चित उत्तर देना अत्यत कठिन है। दोनो पक्षो के दार्शनिको ने अपने-अपने मत की पुष्टि के लिए प्रबल तर्क प्रस्तुत किये हैं। ह्यूम के अनुच्छेद की व्याख्या के सम्बन्ध मे दोनो पक्षो के दार्शनिको के इसी तीव्र विवाद ने समकालीन नैतिक दर्शन मे दो विरोधी सिद्धान्तो को जन्म दिया है जिन्हे 'अवर्णनात्मक सिद्धात' तथा 'वर्णनात्मक सिद्धात' कहा जाता है। एयर, स्टीवैन्सन, प्रायर, नावेलस्मिथ, हेयर आदि दार्शनिक प्रथम सिद्धात का और फिलिपा फुट, पी० टी०

(79) ए सी मैकिन्टायर, "ह्यूम आन 'इज' ऐंड 'आट'", 'फिलासफिकल रिव्यू', 1959 पृ० 455-456-457-463।

गीच, जी० जे० वारनाक, ए०सी० मैकिन्टायर, जे० आर० सर्ल आदि विचारक द्वितीय सिद्धात का समर्थन करते है । नैतिक निर्णयो के स्वरूप और तथ्यो के साथ उनके सम्बन्ध के विषय मे आज भी इन दो विरोधी सिद्धान्तो के समर्थको मे परस्पर तीव्र विवाद चल रहा है । दोनो सिद्धान्तो के समर्थक ह्यूम से ही प्रेरणा प्राप्त करने का दावा करते है और उन्हे ही अपने-अपने सिद्धात का प्रणेता मानते हैं । इससे यही प्रतीत होता है कि इन दोनो सिद्धातो के समथको ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुरूप ही ह्यूम के अनुच्छेद की व्याख्या की है । ऐसी स्थिति मे निश्चयपूर्वक यह कहना बहुत कठिन है कि ह्यूम वास्तव मे किस सिद्धात का समर्थन करते थे । परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि वे तथ्यात्मक वाक्यो तथा कर्त्तव्य सम्बन्धी निर्णयो को एक नही मानते थे, अत हन्टर का यह मत उचित प्रतीत नही होता कि उन्होने इन दोनो मे कोई भेद नहीं किया । अपने अनुच्छेद मे ह्यूम ने स्पष्ट कहा है कि कर्त्तव्य सम्बन्धी निर्णय ऐसे नये सम्बन्धो को अभिव्यक्त करते हैं जो तथ्यो अथवा उनका वर्णन मात्र करने वाले तथ्यात्मक वाक्यो मे नही पाये जाते । इससे यही प्रमाणित होता है कि वे कर्त्तव्य सम्बन्धी निणयो को तथ्यात्मक वाक्यो से भिन्न ही मानते हैं । सम्भवत वे यह भी मानते है कि तार्किक दृष्टि से कर्त्तव्य सम्बन्धी निर्णयो को तथ्यात्मक वाक्यो से निगमित नही किया जा सकता । इस दृष्टि से अवर्णनात्मक सिद्धात के समर्थको का यह कथन उचित ही प्रतीत होता है कि ह्यूम के मतानुसार तथ्यात्मक वाक्यो से कर्त्तव्य सम्बन्धी निर्णयो का तार्किक निगमन सम्भव नही है । परन्तु इसका यह अभिप्राय नही है कि ह्यूम इन दोनो मे किसी प्रकार का सम्बन्ध स्वीकार नहीं करते थे । न्याय, कर्त्तव्यनिष्ठा तथा अन्य सद्गुणो की ह्यूम ने जो उपयोगितावादी व्याख्या की है उससे यह स्पष्ट है कि वे नैतिक निर्णयो के लिए कुछ तथ्यात्मक कारणो को बहुत महत्त्व देते थे । जहाँ तक मुझे ज्ञात है, उन्होने कही भी यह नही कहा कि नैतिक निणयो के लिए तथ्यो का कोई महत्त्व नही है । इसके विपरीत उन्होने इन निर्णयो के लिए प्रासगिक तथ्यो के ठीक-ठीक ज्ञान को अनिवार्य माना है । वस्तुत अवर्णनात्मक सिद्धात के समर्थक भी इस तथ्य को अस्वीकार नही करते । परन्तु यहा यह स्मरण रखना चाहिए कि नैतिक निणयो के लिए तथ्यो के महत्त्व को स्वीकार करना और तार्किक दृष्टि से इन निणयो को तथ्यात्मक वाक्यो से निगमित करना दो भिन्न-भिन्न बातें है । यह कहा जा सकता है कि तथ्यो से सम्बद्ध होते हुए भी नैतिक निर्णय तथ्यात्मक वाक्यो से भिन्न ह, अत तार्किक दृष्टि से इन निर्णयो का तथ्यात्मक वाक्यो से निगमन सम्भव नही है । सम्भवत ह्यूम भी इसी मत को स्वीकार करते है । वे यह मानते हैं कि हमारे नैतिक निर्णय कुछ विशेष तथ्यो से सम्बद्ध अथवा उन पर आधारित होते हैं, किन्तु उनका मत है कि केवल तथ्यात्मक वाक्यो से इन निर्णयो को तार्किक दृष्टि से निगमित करना सम्भव नही है । इसका कारण यह है कि नैतिक भाषा तथ्यात्मक भाषा से भिन्न होती है, अत जब तक आधारवाक्य नैतिक न हो तब तक

उससे नैतिक निष्कर्ष नही निकाला जा सकता। जब ह्यूम समाज के हित मे वृद्धि करने के कारण किसी विशेष कर्म को कर्त्तव्य मानते हैं तो वे पहले से ही इस आधारवाक्य को स्वीकार कर लेते है कि 'जो कर्म समाज के हित मे वृद्धि करता है वह हमारा कर्त्तव्य है'। इससे स्पष्ट है कि 'अमुक कर्म हमारा कत्तव्य है' यह नैतिक निणय केवल इस तथ्य पर आधारित नही है कि इस कर्म से समाज के हित मे वृद्धि होती है, यह निर्णय इस पूर्वस्वीकृत नैतिक नियम पर आधारित है कि जिस कर्म से समाज के हित मे वृद्धि होती है वह हमारा कत्तव्य है'। इस दृष्टि से अवर्णनात्मक सिद्धान्त के समर्थको का यह मत उचित एव युक्तिसगत ही प्रतीत होता है कि ह्यूम के अनुसार तार्किक दृष्टि से नैतिक निर्णयो का केवल तथ्यात्मक वाक्यो से निगमन सम्भव नही है।

(21) स्वतंत्रता और अनिवार्यता

ह्यूम ने मनुष्य के सकल्प-स्वातत्र्य तथा नैतिक उत्तरदायित्व से सम्बधित समस्या पर भी विस्तारपूर्वक विचार किया है। अन्य अनेक दार्शनिको की भाति उन्होने भी अपने दार्शनिक सिद्धातो के अनुसार इस जटिल प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास किया है कि क्या मनुष्य के प्रत्येक कर्म का कोई कारण होना अनिवार्य है और यदि ऐसा है तो फिर उसे ऐच्छिक कर्म करने के लिए स्वतत्र कैसे माना जा सकता है। इस प्रश्न के उत्तर मे ह्यूम का कथन है कि मनुष्य के कर्म करने की स्वतत्रता और उसके प्रत्येक कर्म के कारण की अनिवायता मे कोई वास्तविक विरोध नही है। इसी कारण वे यह मानते हैं कि मानवीय कर्मो की स्वतन्त्रता और उनके कारणो की अनिवार्यता के विषय मे अभी तक जो विवाद होता रहा है वह 'शाब्दिक विवाद' के अतिरिक्त और कुछ नही है।[80] हम किसी प्रकार की कठिनाई अथवा आत्मविरोध के बिना कारणो की अनिवायता तथा मानवीय कर्मो की स्वतत्रता इन दोनो को एक साथ स्वीकार कर सकते है। अपने इसी सिद्धात को सत्य प्रमाणित करने के लिए सर्वप्रथम ह्यूम ने विश्व मे कारणो की अनिवार्यता का विवेचन किया है। उनके मतानुसार हमे जगत मे सर्वत्र कारणो की अनिवार्यता स्पष्टत दृष्टिगोचर होती है—अर्थात् हम अपने अनुभव से यह जानते हैं कि प्रत्येक वस्तु का कोई कारण होना अनिवार्य है। कारणो की अनिवार्यता से सम्बन्धित हमारा यह प्रत्यक्ष अनुभव ही हमारे व्यावहारिक जीवन तथा सम्पूर्ण विज्ञान का मूल आधार है। यदि कारणो की इस अनिवार्यता द्वारा शासित प्राकृतिक घटनाओ मे पूर्ण एकरूपता न होती तो हमारे लिए विश्व की किसी भी घटना अथवा वस्तु के स्वरूप और कारण को समझना असम्भव हो जाता। ऐसी स्थिति मे हम किसी एक घटना को देख कर उससे सम्बद्ध दूसरी घटना का कभी भी अनुमान न लगा पाते। परन्तु हम

(80) देखिये डेविड ह्यूम, 'एन ऐन्क्वायरी कन्सरनिंग ह्यूमन अन्डरस्टैंडिंग,' चार्ल्स डबल्यू, हैंडेल द्वारा सम्पादित पुस्तक 'ह्यूम—सलेक्शन्ज' में सकलित, पृ॰ 161।

अपने प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा यह जानते हैं कि विश्व मे घटित होने वाली समस्त घटनाए अनिवार्यत कारण और कार्य के रूप मे सम्बद्ध रहती हैं। हमारा सम्पूर्ण व्यावहारिक तथा वैज्ञानिक ज्ञान इसी अनुभवजन्य कारण-कार्य सम्बन्ध के अनुमान-मूलक ज्ञान पर ही आधारित है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ह्यूम के मतानुसार कारणो की यह अनिवार्यता केवल भौतिक जगत् तक ही सीमित नही है, मनुष्य के समस्त विचार, प्रयोजन तथा कर्म भी पूर्णत इसी अनिवार्यता द्वारा शासित होते हैं। इसका अभिप्राय यही है कि मनुष्य के प्रत्येक ऐच्छिक कर्म का कोई कारण अवश्य होता है। वस्तुत इसी मान्यता के आधार पर ही हम मनुष्य के नैतिक उत्तरदायित्व की ठीक-ठीक व्याख्या कर सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के कुछ विशेष कर्मो को उसमे निहित कुछ विशेष कारणो के अनिवार्य परिणाम मान कर ही हम उसे उन कर्मो के लिए नैतिक दृष्टि से उत्तरदायी समझते हैं और उसकी प्रशसा अथवा निंदा करते हैं। व्यक्ति के कर्मो को स्वय उसी मे निहित कारणो द्वारा अनिवार्यत प्रेरित मान कर ही हम यह कहते है कि ये कर्म उसके चरित्र के द्योतक हैं। ह्यूम के शब्दो मे, "अनिवार्यता के सिद्धात का सामान्यत चाहे कितना ही विरोध क्यो न किया जाये, वास्तव म इसी सिद्धात के आधार पर व्यक्ति अपने कर्मो के लिए प्रशसा अथवा निंदा अर्जित करता है।"[81] जो कर्म वह अज्ञानवश अथवा बाह्य कारणो से बाध्य हो कर करता है उनके लिए हम उसे सदैव पूर्णत उत्तरदायी नही मानते। इस प्रकार ह्यूम के अनुसार मानवीय कर्मो के कारणो की अनिवार्यता को स्वीकार किये बिना हम नैतिक उत्तरदायित्व की व्याख्या नही कर सकते।

मनुष्य के समस्त ऐच्छिक कर्मो के कारणो की अनिवार्यता को प्रमाणित करने के लिए ह्यूम ने अनेक तर्क प्रस्तुत किये हैं। सर्वप्रथम उनका कथन है कि भिन्न-भिन्न युगो तथा देशो के सभी मनुष्यो के कर्मो मे बहुत समानता अथवा एकरूपता पायी जाती है, क्योकि सभी देशो और कालो मे मानव स्वभाव मूलत एक जैसा ही रहा है। प्रेम, दया घृणा, ईर्ष्या, प्रतिशोध आदि मूल अभिप्रेरणाए सभी मनुष्यो को सर्वत्र और सर्वदा एक जैसे कर्म करने के लिए ही प्रेरित करती रही हैं। आत्मप्रेम, लाभ, महत्त्वाकाक्षा, गर्व, मैत्री, उदारता आदि प्रवृत्तिया ही मानव जीवन के प्रारम्भ से समस्त मानवीय कर्मो को प्रेरित करती रही हैं और आज भी कर रही हैं। इससे स्पष्ट है कि ये मूल प्रवृत्तियाँ ही मनुष्य के समस्त कर्मो के अनिवार्य अभिप्रेरक कारण हैं जिनके फलस्वरूप सर्वत्र और सर्वदा उसके इन कर्मो मे एकरूपता बनी रहती है। इसी प्रकार जब हम किसी व्यक्ति के चरित्र की बात करते हैं तो इससे हमारा तात्पर्य यही होता है कि उसके कर्मो मे निश्चित एकरूपता पायी जाती है—अर्थात् वह कुछ विशेष परिस्थितियो मे केवल कुछ विशेष प्रकार के

(81) डेविड ह्यूम, 'ए ट्रिटाइज आफ ह्यूमन नेचर' बुक 3, पृ० 411।

कर्म करता है। परन्तु ह्यूम के अनुसार इसका अर्थ यह नही है कि सभी व्यक्ति एक जैसी परिस्थितियो मे सदा पूर्णत समान कर्म ही करेंगे। मानवीय कर्मों मे इस प्रकार की कठोर यान्त्रिक एकरूपता नही पायी जाती, क्योकि चरित्र की भिन्नता के कारण समान परिस्थितियो मे विभिन्न व्यक्तियो की प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न हो सकती है और यह तथ्य मनुष्य की स्वतन्त्रता का द्योतक है। परन्तु ह्यूम के विचार मे मनुष्य की यह स्वतन्त्रता उसके कर्मो के कारणों की अनिवार्यता का निषेध नही करती। यदि हमे किसी व्यक्ति के चरित्र तथा उसकी परिस्थितियो का ठीक-ठीक ज्ञान है तो हम उसके अनियमित और अप्रत्याशित प्रतीत होने वाले कर्मों के कारणो को भी भलीभाति स्पष्ट कर सकते हैं। यदि हम उसके ऐसे कर्मों के कारणों की व्याख्या नही कर सकते तो इसका अर्थ यह नही है कि उसके ये कर्म अकारण हैं, इसका अर्थ केवल यही है कि हमे वस्तुत उसके चरित्र और उसकी परिस्थितियो का समुचित ज्ञान नही है। जिस प्रकार हम मौसम मे होने वाले अचानक परिवर्तनो के ठीक-ठीक कारणो को न जानते हुए भी उन्हे अकारण नही मानते उसी प्रकार मनुष्य के अप्रत्याशित प्रतीत होने वाले कर्मों के कारणो को ठीक-ठीक न समझ सकने पर हमे उसके इन कर्मों को अकारण नही मानना चाहिए। इस प्रकार मौसम मे होने वाले आकस्मिक परिवर्तनो के अज्ञात कारणो से मनुष्य के अप्रत्याशित कर्मों के अज्ञात कारणो की तुलना के आधार पर ह्यूम ने इन कर्मो के कारणो की अनिवार्यता को प्रमाणित करने का प्रयास किया है। समस्त मानवीय कर्मो के कारणो की अनिवार्यता को सार्वभौमिक तथा निर्विवाद मानते हुए वे कहते हैं, "ऐसा प्रतीत होता है कि अभिप्रेरणाओ तथा ऐच्छिक कर्मों मे न केवल वैसा नियमित एव एकरूपतायुक्त सम्बन्ध है जैसा कि प्रकृति के किसी भी अन्य क्षेत्र के अन्तर्गत कारण तथा कार्य मे पाया जाता है, अपितु इस नियमित सम्बन्ध को सम्पूर्ण मानव-जाति द्वारा स्वीकार किया गया है और यह दर्शन अथवा सामान्य जीवन मे कभी भी विवाद का विषय नही रहा। मानवीय कर्मो मे पायी जाने वाली इस एकरूपता के अनुभव के आधार पर ही हम उनके विषय मे अनुमान लगाते हैं। अनिवार्यता के सिद्धान्त को स्वीकार किये बिना विज्ञान अथवा किसी प्रकार के कर्म मे प्रवृत्त होना लगभग असम्भव प्रतीत होता है।"[82]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ह्यूम अनिवार्यता के सिद्धान्त का दृढता-पूर्वक समर्थन करते हैं। परन्तु उनका मत है कि यह सिद्धान्त मनुष्य के सकल्प-स्वातन्त्र्य का निषेध नही करता। मानवीय कर्मों के कुछ अनिवार्य कारणो द्वारा प्रेरित होने का अर्थ यह नही है कि मनुष्य इन कर्मों को करने या न करने के लिए किसी बाह्य शक्ति द्वारा बाध्य है। वास्तव मे मनुष्य स्वय अपनी इच्छानुसार इन

(82) डेविड ह्यूम, 'ऐन ऐन्क्वायरी कन्सर्निंग ह्यूमन अन्डरस्टैंडिंग', चार्ल्स डब्ल्यू, हेंडेल द्वारा सम्पादित पुस्तक 'ह्यूम—सलेक्शन्ज' में सकलित, पृ० 167, 169।

कर्मों को करने या न करने का निर्णय करता है और यही उसकी स्वतन्त्रता है जो कर्मों के कारणो की अनिवार्यता द्वारा बाधित नही होती। इस दृष्टि से मानवीय स्वतन्त्रता का अर्थ करते हुए ह्यूम ने कहा है कि "स्वतन्त्रता से हमारा तात्पर्य केवल यही हो सकता है कि मनुष्य मे अपनी इच्छानुसार कर्म करने या न करने की शक्ति है।' यह स्वतन्त्रता ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त है जो वदी अथवा जजीरो से जकडा हुआ नही है। ऐसी स्वतन्त्रता के विषय मे कोई विवाद नही है।"[83] ह्यूम के मतानुसार यह स्वतन्त्रता अनिवार्यता की विरोधी नही है। मानवीय स्वतन्त्रता अनिवार्यता की विरोधी तभी होगी जब हम 'स्वतन्त्रता' का यह अर्थ समझे कि मनुष्य के कर्मों का उसके प्रयोजनो तथा उसकी मूल अभिप्रेरणाओ से कोई सम्बन्ध नही है—अर्थात् ये कर्म उसकी इन मूल अभिप्रेरणाओ द्वारा प्रेरित नही होते। परन्तु ह्यूम ऐसी स्वतन्त्रता के अस्तित्व को स्वीकार नही करते, क्योकि यह अनुभवसिद्ध तथ्यो के विरुद्ध है। उनका कथन है कि विश्व मे कुछ भी अकारण घटित नही होता, अत मनुष्य के कर्म भी अकारण नहीं हो सकते। इस सम्बन्ध मे ह्यूम सयोग का पूर्णत निषेध करते हैं। उनका कथन है कि मनुष्य का कोई भी कर्म केवल सयोग द्वारा प्रेरित नही हो सकता, क्योकि 'सयोग' कोई शक्ति न हो कर वास्तव मे निषेधात्मक शब्द है। स्पष्ट है कि संयोग के आधार पर मानवीय कर्मों की स्वतन्त्रता को प्रमाणित नही किया जा सकता। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि ह्यूम मानवीय कर्मों के कारणो की अनिवार्यता को आवश्यक मानते हुए भी मनुष्य की स्वतन्त्रता मे विश्वास करते है।

(22) कुछ मुख्य आपत्तियाँ

अब अन्त मे इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि ह्यूम के नैतिक दर्शन की आधारभूत मान्यताओ को कहा तक स्वीकार किया जा सकता है। कडवर्थ, क्लार्क आदि बुद्धिवादी दार्शनिको के विरुद्ध उनका यह मत निश्चय ही उचित है कि नैतिक निर्णय गणित के निर्णयो की भाति अपरिवर्तनशील, भावनाशून्य तथा केवल तर्कबुद्धि पर आधारित नही होते, अत इन दोनो प्रकार के निर्णयो की तुलना करना भ्रामक है। पूर्णत बौद्धिक विषय होने के कारण गणित के निर्णय शाश्वत तथा परिणामनिरपेक्ष होते हैं और उन पर देश-काल का भी कोई प्रभाव नही पडता। केवल तर्कबुद्धि पर आधारित होने के कारण ये निर्णय मनुष्य की भावनाओ अथवा इच्छाओ द्वारा भी प्रभावित नही होते। परन्तु नैतिक निणयो के सम्बन्ध मे यह नही कहा जा सकता। इन निणयो के साथ सामान्यत मनुष्य की भावनाए सम्बद्ध रहती है और इनके औचित्य पर विचार करते समय व्यक्ति की परिस्थितियो तथा इनके परिणामो पर ध्यान देना आवश्यक होता है। ऐसी स्थिति मे ह्यूम का यह मत उचित और युक्तिसगत ही है कि नैतिक निर्णयो को पूर्णत बौद्धिक नही माना

(83) वही पुस्तक, पृ० 174।

जा सकना जैसा कि बुद्धिवादी दार्शनिक मानते हैं । नैतिकता के सम्बन्ध मे उनका उपयोगितावादी दृष्टिकोण भी पर्याप्त सीमा तक उचित प्रतीत होता है "कोई भी सद्गुण स्वत साध्य अथवा अपने आप मे शुभ नही होता और न ही कोई कर्म अपने आप मे उचित या अनुचित होता है । प्रत्येक सद्गुण का शुभत्व तथा कर्म का औचित्य, अन्तत मानव-समाज के हित की वृद्धि मे सहायक होने पर ही निर्भर है। नैतिकता के सम्बन्ध मे ह्यूम ने इसी महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है । आज भी अनेक दार्शनिक नैतिकता के प्रति उनके इस उपयोगितावादी दृष्टिकोण का समर्थन करते है । धार्मिक विचारधारा को अस्वीकार करके मानव-स्वभाव के आधार पर नैतिकता की व्याख्या करने का ह्यूम ने जो प्रयास किया है वह भी निश्चय ही उचित और प्रशसनीय है । उनके पश्चात् बेन्थम, मिल, सिजविक, बटलर आदि अनेक महान् दार्शनिको ने धार्मिक विचारधारा के स्थान पर मानव-स्वभाव को ही मूल आधार मानकर नैतिकता की सार्थकता प्रमाणित की है । आज भी अधिकतर दार्शनिक नैतिकता के सम्बन्ध मे इसी धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण को ही स्वीकार करते हैं । सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि ह्यूम के नैतिक दर्शन की आधारभूत मान्यताओ को पर्याप्त सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है और किया भी जा रहा है ।

परन्तु नैतिक निर्णयो तथा मनुष्य के कर्त्तव्य-निर्धारण के सम्बन्ध मे ह्यूम ने तर्कबुद्धि को जो गौण स्थान दिया है उसका औचित्य बहुत सदिग्ध प्रतीत होता है । हम देख चुके हैं कि वे तर्कबुद्धि को भावनाओ अथवा मनोवेगो की दासी मात्र मानते हैं, किन्तु यह अनुभवसिद्ध तथ्य है कि मानवीय आचरण मे तर्कबुद्धि का इतना निकृष्ट स्थान नही है । मानव-जीवन मे तर्कबुद्धि सदैव मनोवेगो अथवा भावनाओ की सेविका के रूप मे ही कार्य नही करती, कुछ परिस्थितियो मे वह उन्हे नियन्त्रित भी करती है । यह सत्य है कि मनुष्य के जीवन मे भावनाओ, मनोवेगो तथा इच्छाओ का बहुत महत्त्व है और वह प्राय इन्ही से प्रेरित होकर आचरण करता है, किन्तु यह कहना उचित नही होगा कि उसका सम्पूर्ण आचरण सदैव इन्ही के द्वारा निर्धारित और शासित होता है । इस तथ्य को अस्वीकार नही किया जा सकता कि कुछ विशेष परिस्थितियो मे मनुष्य तर्कबुद्धि द्वारा अपनी भावनाओ एव इच्छाओ को नियन्त्रित करके उनके विरुद्ध भी कर्म करता है अत तर्कबुद्धि को भावनाओ या मनोवेगो की सेविका मात्र नही माना जा सकता जैसा कि ह्यूम ने माना है । कभी-कभी मनुष्य कर्त्तव्य का पालन करने के लिए अपनी प्रबल इच्छाओ की पूर्ति का भी परित्याग कर देता है और उसका ऐसा आचरण तर्कबुद्धि द्वारा ही निर्धारित हो सकता है, मनोवेगो अथवा भावनाओ द्वारा नही । ऐसी स्थिति मे ह्यूम के इस मत को स्वीकार करना बहुत कठिन है कि तर्कबुद्धि पूर्णत निष्क्रिय शक्ति है और वह कभी भी मनुष्य के आचरण को प्रेरित अथवा निर्धारित नही कर सकती । वस्तुत यह कहना अनुचित न होगा कि तर्कबुद्धि द्वारा अपनी भावनाओ तथा इच्छाओ को

भलीभांति संगठित एवं नियन्त्रित करके ही मनुष्य नैतिक जीवन व्यतीत कर सकता है और तर्कबुद्धि द्वारा निर्धारित यह नैतिक जीवन ही उसकी ऐसी प्रमुख विशेषता है जो उसे अन्य प्राणियों से पृथक् करती है। इस सम्पूर्ण विवेचन से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मानव-जीवन में भावनाओं और इच्छाओं की भांति तर्क-बुद्धि का भी बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु उसे भावनाओं तथा इच्छाओं की सेविका मात्र मानकर ह्यूम ने इस तथ्य की उपेक्षा की है।

ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्धिवाद के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ह्यूम ने नैतिक निर्णयों तथा मनुष्य के आचरण के सम्बन्ध में मनोवेगों अथवा भावनाओं को आवश्यकता से कहीं अधिक महत्त्व दिया है। वे नैतिकता को भावनाओं पर ही आधारित मानते हैं और उन्हीं के आधार पर समस्त कर्मों के शुभत्व एवं अशुभत्व की व्याख्या करते हैं। उनका यह स्पष्ट और निश्चित मत है कि जब हम किसी कर्म को शुभ या अशुभ कहते हैं तो वस्तुतः हम उस कर्म के सम्बन्ध में कुछ न कहकर उसके विषय में केवल अपनी कुछ विशेष भावनाओं को ही अभिव्यक्त करते हैं।[84] परन्तु नैतिक निर्णयों के सम्बन्ध में ह्यूम के इस मत को स्वीकार करना बहुत कठिन है, क्योंकि इसे स्वीकार कर लेने पर इन निर्णयों तथा स्वाद-गंध सम्बन्धी पूर्णतः व्यक्तिनिष्ठ निर्णयों में कोई अन्तर नहीं रह जाता। इसी कारण अधिकतर दार्शनिक यह स्वीकार करते हैं कि भावनाओं से सम्बद्ध होते हुए भी नैतिक निर्णय व्यक्तिनिष्ठ निर्णयों के विपरीत कुछ सीमा तक सार्वभौमिक, वस्तु-निष्ठ तथा निर्वैयक्तिक होते हैं। इसका अभिप्राय यही है कि चरित्र एवं कर्म का शुभत्व या अशुभत्व किसी व्यक्ति की भावनाओं पर ही निर्भर नहीं हो सकता जैसा कि ह्यूम मानते हैं। वस्तुतः उन्होंने मानव-जीवन में तर्कबुद्धि के उचित स्थान की उपेक्षा करते हुए मनोवेगों अथवा भावनाओं को अत्यधिक महत्त्व देकर नैतिक निर्णयों को स्वाद-गंध सम्बन्धी निर्णयों के समान ही पूर्णतः व्यक्तिनिष्ठ बना दिया है। परन्तु नैतिक निर्णयों के स्वरूप के विषय में ह्यूम का यह मत उतना ही अनुचित और एकांगी है जितना उनके विरोधी बुद्धिवादियों का। यह सत्य है कि देश-काल से प्रभावित और मानवीय भावनाओं से सम्बद्ध होने के कारण नैतिक निर्णय गणित के निर्णयों के समान पूर्णतः बौद्धिक नहीं होते, किन्तु पर्याप्त सीमा तक वस्तुनिष्ठ, सार्वभौमिक तथा तर्कबुद्धि पर आधारित होने के कारण ये निर्णय पूर्णतया व्यक्तिनिष्ठ भी नहीं होते। इन निर्णयों को पूर्णतः भावनाओं पर ही आधारित मानकर ह्यूम ने इनकी वस्तुनिष्ठता का निषेध किया है, इसी कारण कुछ समकालीन दार्शनिकों ने उनके नैतिक सिद्धान्त को व्यक्तिनिष्ठवाद तथा संवेगवाद के समान ही माना है। इस प्रकार भावनाओं अथवा मनोवेगों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने के कारण ह्यूम न तो नैतिक निर्णयों के स्वरूप की पूर्णतया

(84) देखिये 'ए ट्रिटाइज आफ ह्यूमन नेचर', बा 3, पृ० 468।

संतोषजनक व्याख्या कर पाये हैं और न मानवीय आचरण को निर्धारित करने वाले तत्त्वो की।

उपर्युक्त आपत्तियो के अतिरिक्त ह्यूम के नैतिक सिद्धान्त के विरुद्ध वे सभी आपत्तिया भी उठाई जा सकती हैं जो सुखवाद के विरुद्ध उठाई गई हैं। हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि ह्यूम समस्त कर्मों के शुभत्व तथा अशुभत्व को क्रमश सुख और दु ख पर आधारित मानकर सुखवाद का पूर्णत समर्थन करते है। उन्होने स्पष्ट कहा है कि हम सदैव सुखप्राप्ति और दु खनिवृत्ति की इच्छा से प्रेरित होकर ही सभी कर्म करते है। दूसरे शब्दो मे, सुख-दु ख ही हमारे समस्त कर्मो के मूल प्रेरक कारण हैं जिनके अभाव मे हम कोई भी कर्म नही कर सकते।[85] स्पष्ट है कि ह्यूम मनोवैज्ञानिक सुखवाद के दृढ समर्थक हैं। परन्तु सिजविक, बटलर आदि कुछ महान् दार्शनिको ने अनेक प्रबल प्रमाणो द्वारा मनोवैज्ञानिक सुखवाद का खडन किया है। इस सिद्धान्त के विरुद्ध मुख्य आपत्ति यही है कि मनुष्य सदैव केवल सुखप्राप्ति की इच्छा से प्रेरित होकर कर्म नही करता, कुछ विशेष परिस्थितियो मे वह सुख की इच्छा का परित्याग करके अन्य कारणो—यथा, कर्त्तव्यचेतना—से प्रेरित होकर भी कर्म करता है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद के अन्य समर्थको की भाति ह्यूम ने भी मानवीय आचरण के सम्बन्ध मे इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा की है, अत मानवीय कर्मो के प्रेरक कारणो का उन्होने जो विश्लेषण किया है वह एकागी हो गया है।

इसके अतिरिक्त ह्यूम का यह मत भी उचित प्रतीत नही होता कि जो कर्म किसी समुदाय के सभी अथवा अधिकतर सदस्यो के मन मे अनुमोदन की भावना उत्पन्न करता है वह शुभ और जो कर्म उनके मन मे अननुमोदन की भावना उत्पन्न करता है वह अशुभ है। कर्मो का शुभत्व और अशुभत्व व्यक्ति की भाति किसी समुदाय के सभी या अधिकतर सदस्यो के अनुमोदन तथा अननुमोदन की भावना पर ही आधारित नही माना जा सकता। यह सम्भव है कि किसी समुदाय के सभी या अधिकतर सदस्य किसी विशेष कर्म के प्रति अनुमोदन अथवा अननुमोदन की भावना का अनुभव करते हो और फिर भी वास्तव मे वह कर्म शुभ या अशुभ न हो। उदाहरणार्थ जब भारत मे सती-प्रथा प्रचलित थी तब हमारे समाज मे अधिकतर व्यक्ति इसका अनुमोदन करते थे, किन्तु इस आधार पर नैतिक दृष्टि से इस प्रथा का औचित्य प्रमाणित नही होता। इसी प्रकार आज भी हमारे समाज मे अधिकतर व्यक्ति दहेज-प्रथा का अनुमोदन करते हैं परन्तु उनका यह अनुमोदन इस प्रथा को नैतिक दृष्टि से वाछनीय सिद्ध नही कर सकता। अमेरिका के सभी श्वेत निवासी लगभग दो सौ वर्ष पूर्व प्रचलित दास-प्रथा का पूर्ण अनुमोदन करते थे, किन्तु इस आधार पर यह घृणित प्रथा नैतिक दृष्टि से उचित सिद्ध नही होती। वस्तुत मानव-इतिहास इस बात का साक्षी है कि समय-समय पर अनेक महान् समाज-

(85) 'वही पुस्तक', बुक 3, पृ० 574।

सुधारकों ने जिन निंदनीय प्रथाओं के विरुद्ध आन्दोलन किया है उनका तत्कालीन समाज के सभी या अधिकतर सदस्य पूर्ण अनुमोदन करते थे। इससे यह स्पष्ट है कि किसी समुदाय के सभी अथवा अधिकतर सदस्यों द्वारा अनुभव की गई अनुमोदन या अननुमोदन की भावना ही किसी कर्म को शुभ अथवा अशुभ नहीं बनाती। ऐसी स्थिति में किसी समुदाय के सभी अथवा अधिकतर सदस्यों के अनुमोदन तथा अननुमोदन की भावना के आधार पर ह्यूम ने कर्मों के शुभत्व एवं अशुभत्व की जो व्याख्या की है उसे पूर्णतया संतोषजनक नहीं माना जा सकता।

परन्तु उपर्युक्त सभी कठिनाइयों के होते हुए भी ह्यूम के नैतिक सिद्धान्त का पाश्चात्य नीतिशास्त्र के इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है।। गत दो सौ वर्षों में अनेक महान् दार्शनिकों ने नैतिकता के सम्बन्ध में उनके विचारों से प्रेरणा प्राप्त की है। हम पहले ही संकेत कर चुके हैं कि बैन्थम, मिल तथा सिजविक के उपयोगितावाद पर नैतिकता के प्रति ह्यूम के उपयोगितावादी दृष्टिकोण का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। इसके अतिरिक्त समकालीन नैतिक दर्शन के दो प्रमुख सिद्धान्तों—संवेगवाद तथा परामर्शवाद—के प्रणेताओं ने भी नैतिक निर्णयों के स्वरूप के विषय में ह्यूम के विचारों से प्रेरणा ग्रहण की है। दो शताब्दियों के पश्चात् भी वर्तमान नैतिक दर्शन पर ह्यूम के विचारों का यह व्यापक प्रभाव निश्चय ही उनके नैतिक दर्शन की उपादेयता एवं महत्ता का द्योतक है।

भाग–4

धर्मदर्शन

(23) धर्मदर्शन की पृष्ठभूमि

ह्यूम के नैतिक दर्शन से सम्बन्धित प्रमुख सिद्धान्तो का विवेचन करने के उपरान्त अब धर्मदर्शन सम्बन्धी उनको कुछ आधारभूत और क्रान्तिकारी मान्यताओ पर विचार किया जायेगा। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ज्ञान-मीमासा तथा आचार-मीमासा की दृष्टि से ही नही, अपितु धर्मदर्शन की दृष्टि से भी ह्यूम के विचारो का पाश्चात्य दर्शन के इतिहास मे विशेष महत्व है। अट्ठारहवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे, जब ह्यूम ने अपने धर्म-दर्शन का प्रतिपादन किया था, यूरोपीय समाज पर ईसाई धर्म तथा पादरियो का अत्यधिक व्यापक प्रभाव था, क्योकि तब सामान्य मनुष्य का सम्पूर्ण व्यक्तिगत जीवन धार्मिक परम्परो तथा सिद्धान्तो द्वारा ही शासित होता था। यूरोप का इतिहास इस बात का साक्षी है पुनर्जागरण के उस युग मे भी अन्धविश्वासो, हठधर्मिता एव धर्मांधता की प्रधानता थी और जनसाधारण का दैनिक आचरण तर्कबुद्धि द्वारा नही, प्रत्युत पादरियो द्वारा बनाये गये धार्मिक नियमो द्वारा ही शासित होता था। ईसाई धर्म के इस व्यापक प्रभाव के कारण धर्म के सम्बन्ध मे स्वतन्त्र चिन्तन तथा वाद-विवाद सम्भव नही था। ऐसी स्थिति मे किसी भी विचारक के लिए धर्म तथा उससे उत्पन्न अन्धविश्वासो के विरुद्ध अपने विचार व्यक्त करना अत्यन्त दुष्कर कार्य था जिसे करने के लिए उसे अपने प्राणो तक का बलिदान देना पड सकता था। इन कठिन तथा प्रतिकूल परिस्थितियो मे ह्यूम ने धर्मजनित अन्धविश्वासो, हठधर्मिता, धार्मिक असहिष्णुता तथा पादरियो द्वारा बनाये गये कठोर धार्मिक नियमो के तत्कालीन समाज पर व्यापक दुष्प्रभाव के विरुद्ध जो क्रान्तिकारी विचार व्यक्त किये है वे निश्चय ही बहुत प्रशसनीय एव आश्चर्यजनक है। उनके इन परम्पराविरोधी विचारो से स्पष्ट है कि वे धर्मांधता के उस युग मे भी स्वतन्त्र चिन्तन करने का साहस कर सकते थे।

धर्म-दर्शन के सम्बन्ध मे ह्यूम ने दो महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखी है। उनकी प्रथम पुस्तक है 'दि नेचरल हिस्ट्री ऑफ रिलिजन' जो 1757 मे प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक मे उन्होंने अनुभववादी विचारधारा के अनुसार ही धर्म की उत्पत्ति तथा उसके विकास का विवेचन किया है और यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि प्राचीन युग मे सर्वत्र बहुदेववाद ही प्रचलित था जिससे अतत एकेश्वरवाद का उदय हुआ। इसी पुस्तक मे अनेक उदाहरणो द्वारा उन्होने यह सिद्ध करने का भी प्रयत्न

किया है कि प्राकृतिक शक्तियों के सम्बन्ध में मनुष्य के अज्ञान तथा उससे उत्पन्न भय के फलस्वरूप ही अन्तत धर्म का जन्म हुआ है। इस प्रकार धर्म की उत्पत्ति और उसका विकास ही इस पुस्तक का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। ह्यूम द्वारा लिखित धर्म-दर्शन सम्बन्धी दूसरी पुस्तक है 'दि डाएलाग्स कन्सरनिंग नेचरल रिलीजन' जो 1750 तथा 1760 के बीच में लिखी गई थी और जो उनकी मृत्यु के तीन वर्ष पश्चात् 1779 में प्रकाशित हुई। जैसा कि इस पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट है, यह धार्मिक विषयों के सम्बन्ध में कुछ पात्रों के बीच परिसम्वाद के रूप में लिखी गई है। मुख्यत सिसिरो की शैली का अनुकरण करते हुए इस पुस्तक में ह्यूम ने तीन पात्रों डेमिया, क्लीनथेस तथा फिलो—के बीच परिसम्वादों के माध्यम से ईश्वर के अस्तित्व सम्बन्धी प्रमाणों, उसके स्वरूप, गुणों तथा उसकी शक्तियों के विषय में अनुभववादी तार्किक दृष्टिकोण से विचार किया है। इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य यह प्रमाणित करना है कि मनुष्य अपनी सीमित बुद्धि द्वारा ईश्वर सम्बन्धी इस सम्पूर्ण गहन विषय का स्पष्ट और निश्चित ज्ञान कभी प्राप्त नहीं कर सकता। इन दो पुस्तकों के अतिरिक्त ह्यूम ने अपनी 'इन्क्वायरी कन्सरनिंग ह्यूमन अडर-स्टैंडिंग' में चमत्कारों के सम्बन्ध में एक निबन्ध लिखा है जिसमें उन्होंने सभी प्रकार के चमत्कारों की सम्भावना का निषेध किया है। इसी प्रकार अपनी पुस्तक 'एसेज—मारल ऐंड पोलिटिकल' में उन्होंने आत्मा की अमरता से सम्बन्धित विश्वास तथा पुनर्जन्म के विचार का खडन किया है। अपनी इन सभी कृतियों में उन्होंने मनुष्य के जीवन तथा उसके आचरण पर धर्म और उससे उत्पन्न अनेक अन्धविश्वासों के घातक प्रभाव का विस्तृत विवेचन किया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि तत्कालीन अधिकतर विचारकों के विपरीत ह्यूम धर्म को मानव-समाज के लिए उपादेय न मानकर हानिकारक ही मानते हैं और धर्म के प्रति उनका यही निषेधात्मक दृष्टिकोण धर्म-दर्शन सम्बन्धी उनकी सभी कृतियों में स्पष्टत परिलक्षित होता है। वस्तुत अट्ठारहवीं शताब्दी में धर्म के प्रति ह्यूम का यह निषेधात्मक दृष्टिकोण उनके अदम्य साहस एव मौलिक चिन्तन का अकाट्य प्रमाण है।

(24) धर्म का निषेध

अन्य बालकों की भांति ह्यूम की धार्मिक शिक्षा भी बाल्यकाल में ही आरम्भ हो गई थी। उन्हें प्रतिदिन गिरजाघर जाना पडता था और प्रति रविवार प्रात काल कम से कम तीन घटे चुपचाप गिरजाघर में बैठकर पादरियों से धर्मोपदेश सुनने पडते थे। पादरियों द्वारा बनाये गये धार्मिक नियमों का उल्लघन करने पर अन्य बालकों की भांति उन्हें भी कडा दड दिया जाता था। इस प्रकार बाल्यकाल में ही ह्यूम को ईसाई धर्म सम्बन्धी सभी मूल सिद्धान्तों का विस्तृत ज्ञान कराया गया जिससे धर्म के प्रति उनकी रुचि और श्रद्धा उत्पन्न हो सके। परन्तु ह्यूम के लिए इस कठोर धार्मिक शिक्षा का परिणाम पादरियों की आज्ञा और इच्छा के ठीक

विपरीत निकला। इसके फलस्वरूप बाल्यकाल से ही उनके मन मे धर्म के प्रति अरुचि तथा उपेक्षा का भाव उत्पन्न हो गया जो आयु और अनुभव के साथ-साथ निरन्तर बढता ही गया। अपने जीवन के अन्तिम दिनो मे भी उनके मन मे धर्म के प्रति यह अरुचि तथा उपेक्षा विद्यमान थी और वे तब भी आत्मा की अमरता एव पुनर्जन्म के विचार को स्वीकार नही करते थे। जेम्स बोसवेल नामक एक व्यक्ति ने 1776 मे ह्यूम की मृत्यु से कुछ समय पूर्व उनसे इस विषय पर वार्तालाप किया था। उनके इस वार्तालाप के कुछ अश यहाँ प्रस्तुत हैं —"ह्यूम ने कहा कि जब से उन्होने लॉक और क्लार्क की रचनाए पढी हैं तब से उन्होने किसी धार्मिक विश्वास को स्वीकार नही किया। • • उन्होने स्पष्ट कहा कि धर्म सम्बन्धी नैतिकता निकृष्ट ही होती है। उनका कथन था कि जब उन्हे यह मालूम होता है कि कोई व्यक्ति धर्मपरायण है तो वे यही निष्कर्ष निकालते हैं कि वह अवश्य ही दुष्ट होगा, यद्यपि वे कुछ ऐसे व्यक्तियो से भी परिचित हैं जो धर्मपरायण होते हुए भी बहुत अच्छे हैं। मैंने उनसे पूछा—क्या यह सम्भव नही है कि मनुष्य का पुनजन्म हो ? उन्होने उत्तर दिया कि यह कल्पना नितान्त अनुचित एव अयुक्तिसगत है कि हमारा अस्तित्व सदा बना रहे।• मैंने उनसे पूछा कि सदा के लिए पूणत नष्ट हो जाने के विचार से उन्हे कोई दु ख नही होता। उन्होने कहा कि इस विचार से उन्हे बिल्कुल दु ख नही होता—ठीक उसी प्रकार जैसे इस विचार से दु ख नही होता कि वे कभी थे ही नही।"[86] बोसवेल के साथ ह्यूम के इस वार्तालाप से पूणत स्पष्ट है कि उनके जीवन मे सामान्य धार्मिक विश्वासो के लिए कोई स्थान नही था।

परन्तु अपने व्यक्तिगत जीवन मे धार्मिक विश्वासो को कोई महत्व न देते हुए भी ह्यूम मानव-समाज पर धर्म के व्यापक प्रभाव के प्रति उदासीन नही थे। उन्होने धर्म सम्बन्धी इतिहास तथा तत्कालीन धार्मिक विचारधाराओ का गहन अध्ययन किया था और वे इस तथ्य से भी भली-भाँति परिचित थे कि जनसाधारण का जीवन प्रचलित धार्मिक सिद्धान्तो एव आस्थाओ द्वारा ही शासित होता है। इसी कारण अपनी धर्म-दर्शन सम्बन्धी कृतियो मे उन्होने धर्म के सभी महत्वपूर्ण पक्षो—ईश्वर, आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म, चमत्कार, अशुभ की समस्या आदि—पर तार्किक दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। ईश्वर, आत्मा की अमरता, पुनजन्म, अशुभ की समस्या और चमत्कारो की सम्भावना के सम्बन्ध मे ह्यूम के दृष्टिकोण पर हम अगले खडो मे विचार करेंगे। परन्तु धर्म-दर्शन सम्बन्धी इन गम्भीर समस्याओ पर विचार करने से पूर्व मानव-जीवन पर धर्म के व्यापक प्रभाव के विषय मे ह्यूम के मत को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। जैसा कि पहले कहा गया है, वे मनुष्य के लिए धम के इस अनावश्यक व्यापक प्रभाव को बहुत हानिकारक मानते थे। उनका यह निश्चित मत था कि जिस रूप मे धर्म मानव-समाज म

(86) नारमन कैम्पस्मिथ, 'ह्यूम्ज डाएलाग्ज कन्सरनिंग नेचरल रिलीजन' पृ० 97, 98।

प्रचलित है उनके साथ अन्धविश्वास, हठधर्मिता, असहिष्णुता, प्रवचना आदि दुर्गुण अनिवार्यतः सम्बद्ध रहते हैं जो व्यक्ति और समाज दोनो की सुख-समृद्धि के लिए अत्यधिक घातक सिद्ध होते हैं। इन दुर्गुणो को धर्म से अलग करना सम्भव नही है, अतः जब तक मनुष्य की धर्म मे आस्था बनी रहेगी तब तक वह इनके दुष्प्रभाव से कभी मुक्त नही हो सकता। इसके अतिरिक्त धर्म अनेक आडम्बरपूर्ण विधिविधानो द्वारा मानव-जीवन को अस्वाभाविक एव कृत्रिम बनाकर मनुष्य को अपने सामाजिक उत्तरदायित्व तथा नैतिक कर्तव्यो के प्रति उदासीन कर देता है। आडम्बरपूर्ण कर्मकाड मे ही वह इतना अधिक मग्न हो जाता है कि अपने सामाजिक उत्तरदायित्व तथा नैतिक कर्तव्यो की पूर्ति के लिए उसके पास समय और शक्ति दोनो ही शेष नहीं रह जाते। इस प्रकार ह्यूम के मतानुसार धर्म अपने प्रचलित रूप मे मनुष्य के नैतिक आचरण पर बहुत घातक प्रभाव डालता है, अतः उसे नैतिकता का आधार मानना—जैसा कि बहुत-से धर्मपरायण विचारक मानते हैं—अनुचित और अयुक्तिसगत है।

यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि समस्त धार्मिक विश्वासो एव परम्पराओ के विरुद्ध होते हुए भी ह्यूम स्पष्टतः और प्रत्यक्ष रूप से धर्म का खडन नही करते। उस युग की धर्मांधता और प्रतिकूल परिस्थितियो के कारण वे बहुत सावधानीपूर्वक तथा अप्रत्यक्ष रूप से ही धर्म का निषेध करते हैं। फ्रासीसी सदेहवादी दार्शनिक बेल की भाति वे भी यही कहते हैं कि वे 'वास्तविक धर्म' का नही अपितु उससे सम्बद्ध अन्धविश्वासो, हठधर्मिता, असहिष्णुता और प्रवचना का ही विरोध करते हैं। उनका यह भी कथन है कि धर्म के पक्ष मे दिये गये तर्कों का खडन करके वास्तव मे वे आस्था के लिए ही मार्ग प्रशस्त कर रहे है। इस आधार पर ह्यूम ने उन सभी युक्तियो का खडन किया है जिन पर धार्मिक विश्वास तथा परम्पराए आधारित है। धर्म का निषेध करने की इस अप्रत्यक्ष विधि के कारण ही कुछ विचारको ने यह मान लिया है कि ह्यूम धर्म के समर्थक थे और वे उससे सम्बद्ध केवल बुराइयो को ही अस्वीकार करते थे। परन्तु यह मत उचित प्रतीत नही होता, क्योंकि इस बात के अनेक प्रमाण विद्यमान हैं कि धर्म मे ह्यूम की किंचित्मात्र भी आस्था नही थी। उनके सदेहवाद तथा विशुद्ध अनुभववाद से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि वे ईश्वर अथवा अन्य किसी अनुभवातीत शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार नही करते थे। ईश्वर मे जिस विधि से मानवीय गुणो को आरोपित किया जाता है उसकी उन्होने तीव्र आलोचना की है। इसके अतिरिक्त हम यह पहले ही बता चुके हैं कि वे चमत्कारो की सम्भावना, आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म मे भी विश्वास नही करते थे। जहाँ तक बाह्य धार्मिक कर्मकाड का प्रश्न है वे इसके तीव्र विरोधी थे और इसे नैतिकता के लिए बहुत घातक मानते थे। ये सभी तथ्य स्पष्टतः इस मत का खडन करते हैं कि ह्यूम धर्मपरायण विचारक थे अथवा वे धर्म का समर्थन करते थे। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या वास्तव मे ह्यूम 'नास्तिक' थे। इसके उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि वे स्पष्ट तथा निश्चित

रूप से यह नही कहते कि ईश्वर का अस्तित्व नही है, परन्तु उसका अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए प्रस्तुत किये जाने वाले परम्परागत प्रमाणो का उन्होने जो खडन किया है उससे इतना तो अवश्य सिद्ध होता है कि वे ईश्वर के अस्तित्व की सम्भावना मे सदेह करते थे। अपनी पुस्तक 'दि नेचरल हिस्ट्री आफ रिलीजन' के अन्तिम अनुच्छेद मे ईश्वर सम्बन्धी विषय पर अपने इसी सदेहवादी मत को स्पष्ट करते हुए उन्होने लिखा है कि "यह सम्पूर्ण विषय एक पहेली तथा अवर्णनीय रहस्य है। सदेह, अनिश्चयात्मकता तथा निर्णय को स्थगित कर देना ही इस विषय से सम्बन्धित ठीक-ठीक और सावधानीपूर्वक की गई जाँच का एकमात्र परिणाम प्रतीत होता है।" इस उद्धरण से स्पष्ट है कि विश्व के अधिकतर धर्मों के मूल आधार ईश्वर के सम्बन्ध में ह्यूम वस्तुत सदेहवाद तथा अज्ञेयवाद को ही स्वीकार करते हैं। इससे ईसाई धर्म तथा अन्य सभी ईश्वरवादी धर्मों का खडन हो जाता है।

ह्यूम को धर्म का समर्थक मानने वाले कुछ विचारको का मत है कि धर्म के प्रति इस सशयवाद को व्यावहारिक दृष्टि से उन्होने उसी प्रकार अस्वीकार किया है जिस प्रकार वे व्यावहारिक जीवन मे भौतिक वस्तुओ के अस्तित्व के सम्बन्ध मे सशयवाद को अस्वीकार करते हैं। परन्तु वास्तव में यह मत उचित एव युक्तिसगत प्रतीत नही होता। इसका कारण यह है कि ह्यूम ने मनुष्य के लिए भौतिक वस्तुओ के अस्तित्व तथा धार्मिक विश्वासो मे स्पष्ट भेद किया है। वे यह मानते है कि भौतिक वस्तुओ के अस्तित्व मे सदेह करना मनुष्य के अनुभव तथा स्वभाव के नितान्त विपरीत हैं, अत इनके अस्तित्व को स्वीकार करना उसके लिए अनिवार्य हो जाता है। परन्तु मानव-जीवन के लिए ईश्वर तथा अन्य धार्मिक विश्वासो की अनिवार्यता के सम्बन्ध मे यह नही कहा जा सकता। धर्म तथा उससे सम्बद्ध विश्वासो को ह्यूम मनुष्य के जीवन के लिए अनिवार्य नही मानते। इसका अभिप्राय यही है कि समस्त धार्मिक विश्वासो को अस्वीकार करके उनके अनुसार आचरण किये बिना भी मनुष्य स्वाभाविक रूप से अपना जीवन व्यतीत कर सकता है। स्वय अपने व्यक्तिगत अनुभव तथा इतिहास के अध्ययन के आधार पर ह्यूम ने यही निष्कर्ष निकाला है कि मनुष्य के लिए धर्म मे उसी प्रकार विश्वास करना अनिवार्य नही है जिस प्रकार उसके लिए भौतिक वस्तुओ के अस्तित्व मे विश्वास करना अनिवार्य है जिसके अभाव मे वह स्वाभाविक रूप से जीवन व्यतीत नही कर सकता। यही कारण है कि वे धर्म तथा उससे सम्बद्ध विश्वासो को सार्वभौमिक और मानव-स्वभाव का अनिवार्य अग नही मानते। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि ह्यूम धार्मिक विश्वासो की सत्यता के सम्बन्ध मे सशयवादी है और व्यावहारिक दृष्टि से वे मानव-जीवन के लिए धर्म को उपादेय एव श्रेयस्कर न मानकर हानिकारक ही मानते है।

(25) धर्म का उदय और विकास

यद्यपि ह्यूम धर्म को मनुष्य के लिए श्रेयस्कर नही मानते थे, फिर भी वे

प्राचीन युग से मानव-जाति के इतिहास का अध्ययन करने से यही ज्ञात होता है कि उस समय विश्व मे सर्वत्र बहुदेववाद ही प्रचलित था और सर्वव्यापक, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान एक ईश्वर के विचार का उदय बहुत बाद मे हुआ। इसका कारण यह था कि एक सवज्ञ सर्वव्यापक एव सर्वशक्तिमान ईश्वर के अमूर्त विचार को ग्रहण करने की बौद्धिक योग्यता प्राचीन युग के मनुष्य मे विकसित नही हो पायी थी। वह भिन्न-भिन्न प्राकृतिक शक्तियो मे व्यक्तित्व आरोपित करके अपने विभिन्न उद्देश्यो की पूर्ति के लिए अलग-अलग उनकी पूजा करता था। इसी बहुदेववाद को प्राचीन काल के मनुष्य की एकमात्र धार्मिक विचारधारा बताते हुए ह्यूम ने लिखा है कि "यदि हम प्रारम्भिक स्थिति से उच्चतर स्थिति तक मानव-समाज की उन्नति पर विचार करे तो हमे ज्ञात होता है कि बहुदेववाद अथवा मूर्तिपूजा ही मानव-जाति का सर्वप्रथम और प्राचीनतम धर्म रहा है। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि लगभग सत्रह सौ वर्ष पूर्व सम्पूर्ण मानव-जाति बहुदेववाद मे विश्वास करती थी। हम जितना अधिक प्राचीन युग की ओर जाते है उतना ही अधिक हमे मानव-जाति बहुदेववाद का समथन करती प्रतीत होती है। उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम सभी दिशाओ मे हमे इसी तथ्य के सवसम्मत प्रमाण प्राप्त होते हैं। अमेरिका, अफ्रीका तथा एशिया के जगलो मे रहने वाले सभी कबीले बहुदेववादी और मूर्तिपूजक हैं। इस नियम का एक भी अपवाद दृष्टिगोचर नही होता।" "इस प्रकार यदि हम जिज्ञासापूर्वक धम की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे खोज करें तो हमारा ध्यान बहुदेववाद की ओर ही जाता है जो असभ्य एव असस्कृत मानव-जाति का प्राचीनतम धर्म है।"[88] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धर्म के विकास की दृष्टि से ह्यूम ने बहुदेववाद को ही उसका सर्वप्रथम सोपान माना है और उनका यह भी विचार है कि इसी बहुदेववाद से धीरे-धीरे अतत एकेश्वरवाद का जन्म हुआ है।

यहा यह उल्लेखनीय है कि ह्यूम बहुदेववाद को एकेश्वरवाद की अपेक्षा अधिक प्राचीन ही नही अपितु अधिक उत्कृष्ट भी मानते हैं। अपनी इस मान्यता के लिए उन्होंने दो मुख्य कारण प्रस्तुत किये हैं। इसका प्रथम कारण यह है कि बहुदेववाद एकेश्वरवाद की अपेक्षा कही अधिक सहिष्णुतापूर्ण विचारधारा है। बहुदेववाद मे विश्वास करने वाली जातिया अन्य जातियो के देवी-देवताओ को भी सरलतापूवक स्वीकार कर लेती हैं। अपने इस मत की पुष्टि के लिए ह्यूम ने यूनानियो तथा रोमन लोगो का उदाहरण दिया है जो दूसरो के देवताओ का भी अपने देवताओ के समान ही आदर करते थे। बहुदेववाद के विपरीत एकेश्वरवाद असहिष्णुता को जन्म देता है, क्योकि इसके समर्थक स्वय अपने देवता या ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी देवता के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिए उद्यत नही

(88) वही पुस्तक, पृ० 254, 255, 25

पूर्वक विचार किया है। 'डाएलाग्ज' मे क्लीनथेस मुख्यत इसी प्रमाण द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास करता है। वह कहता है कि विश्व मे सभी प्राकृतिक वस्तुए साधन-साध्य के रूप मे एक-दूसरे से समायोजित की गई हैं जिससे सरलतापूर्वक यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस विश्व की रचना का एक निश्चित प्रयोजन है। जिस प्रकार विवेकयुक्त मनुष्य किसी विशेष उद्देश्य को ध्यान मे रखकर ही प्रत्येक वस्तु का निर्माण करता है उसी प्रकार हमारा यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि इस विश्व की रचना भी एक महान् विचारशील प्राणी—अर्थात् ईश्वर ने एक निश्चित प्रयोजन की पूर्ति के लिए ही की है। विश्व मे सर्वत्र प्रयोजनशीलता को देखते हुए साम्यानुमान सम्बन्धी तर्क के आधार पर हम यह कह सकते है कि इसका कोई रचयिता अवश्य है और इस विश्व की विराटता को ध्यान मे रखते हुए हम यह भी कह सकते है कि यह रचयिता कोई सीमित प्राणी न होकर सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान है। इस अनुभवाश्रित युक्ति के आधार पर ही हम ईश्वर की सत्ता प्रमाणित कर सकते हैं और विवेक तथा शक्ति की दृष्टि से हम कुछ सीमा तक मनुष्य के साथ उसकी समानता भी प्रदर्शित कर सकते है।[90] इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रयोजनमूलक प्रमाण प्रस्तुत करने वाले विचारक विश्व को एक उद्देश्य-पूर्ण परिणाम मानकर उसके कारण के रूप मे साम्यानुमान के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं।

परन्तु ह्यूम इस परम्परागत प्रयोजनमूलक प्रमाण को बहुत ही दुर्बल तथा असगत मानते है। उन्होने फिलो के माध्यम से इस प्रमाण के विरुद्ध अनेक गम्भीर आपत्तिया उठाई हैं। इसके विरुद्ध उनकी प्रथम आपत्ति यह है कि इसमे कार्य-कारण के उस मूल नियम का ही उल्लघन किया गया है जिस पर यह आधारित है। इस नियम के अनुसार किसी कार्य के कारण मे केवल उन्ही गुणो के होने का अनुमान किया जा सकता है जो उस कार्य मे पाये जाते हैं, कारण मे ऐसे गुणो को आरोपित करना जो कार्य मे नही पाये जाते युक्तिसगत नही माना जा सकता। प्रयोजनमूलक प्रमाण केवल सीमित कार्य—अर्थात् विश्व—के आधार पर असीमित कारण—अर्थात् ईश्वर—का अनुमान लगा कर उपर्युक्त कार्य-कारण सम्बन्धी नियम को भग करता है। यदि इस प्रमाण को उचित मान लिया जाये तो इसके आधार पर अधिक से अधिक एक सीमित कारण को ही प्रमाणित किया जा सकता है, असीमित और सर्वशक्तिमान ईश्वर को नही। इस प्रकार यह प्रमाण उस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा असीमित ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नही कर पाता जिसमे ईश्वरवादी विश्वास करते हैं। इस युक्ति के विरुद्ध ह्यूम ने दूसरी आपत्ति यह उठाई है कि जिस साम्यानुमान पर यह आधारित है वह बहुत ही दुर्बल तथा दोषपूर्ण है। केवल उसी साम्यानुमान को विश्वसनीय तथा युक्तिसगत माना जा सकता है जिसकी पुनरा-

(90) देखिये हेनरी डेविड एाइकन द्वारा सम्पादित 'डाएलाग्ज', भाग 2, पृ० 17।

वृत्ति सम्भव हो और जिसके बहुत-से उदाहरण उपलब्ध हो सकें। उदाहरणार्थ हम एक भवन को देखकर यह अनुमान लगा सकते हैं कि उसे किसी शिल्पकार ने बनाया है, क्योंकि इससे पूर्व भी हमने बहुत-से भवनो को शिल्पकारो द्वारा निर्मित होते देखा है और यदि हम चाहे तो भविष्य मे भी उनके द्वारा अन्य भवनो को निर्मित होते देख सकते हैं। इस दृष्टि से हम कह सकते है कि किसी भवन की उपस्थिति उसके निर्माता शिल्पकार के अस्तित्व का निश्चित प्रमाण है। परन्तु विश्व और ईश्वर मे जो साम्यानुमान प्रस्तुत किया गया है उसके सम्बन्ध मे यह नही कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि हम प्रयास करने पर भी बार-बार ईश्वर द्वारा विश्व को निर्मित होते हुए नही देख सकते। यदि ईश्वर ने विश्व की रचना की भी है तो यह एक ऐसी अद्वितीय घटना है जिसकी पुनरावृत्ति असम्भव है। ईश्वर द्वारा विश्व का निर्माण हमारे अनुभव का विषय नही है, अत भवन तथा शिल्पकार के सादृश्य के आधार पर ईश्वर की सत्ता को निश्चित रूप से कभी प्रमाणित नही किया जा सकता। इस आपत्ति का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए ह्यूम की ओर से फिलो कहता है कि "जब दो घटनाए सदैव एक साथ सम्बद्ध देखी जाती हैं तो मैं एक घटना के अस्तित्व को देखकर दूसरी घटना के अस्तित्व का अभ्यास अथवा पूर्वानुभव द्वारा अनुमान लगा सकता हूँ और इसे मैं अनुभवाश्रित युक्ति कहता हूँ। परन्तु यह कहना अत्यन्त कठिन है कि प्रस्तुत युक्ति उन घटनाओ के सम्बन्ध मे कैसे लागू हो सकती है जो अकेली तथा अद्वितीय हैं और जिनके सादृश्य का कोई अन्य उदाहरण ही नही है।"[91]

प्रयोजनमूलक प्रमाण के विरुद्ध ह्यूम की तीसरी मुख्य आपत्ति यह है कि वर्तमान विश्व की रचना के आधार पर पूर्ण, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा दयालु ईश्वर की सत्ता को निश्चित रूप से कभी प्रमाणित नही किया जा सकता। इसका कारण यह है कि हम जिस विश्व को जानते हैं उसमे अनेक अपूर्णताए तथा दोष हैं। विश्व की सभी वस्तुए नश्वर हैं और समस्त प्राणियो के शरीर भी प्राय अनेक प्रकार की व्याधियो से ग्रस्त रहते हैं और अतत कुछ समय के पश्चात् नष्ट हो जाते हैं। अब प्रश्न यह है कि यदि ईश्वर वास्तव मे पूर्ण, सर्वशक्तिमान तथा सर्वज्ञ है तो उसने ऐसे अपूर्ण एव दोषयुक्त विश्व की रचना क्यो की है। ईश्वर की सत्ता मे विश्वास करने वाले व्यक्ति इस प्रश्न का कोई सतोषजनक उत्तर नही दे पाते। यदि उनके इस मत को स्वीकार कर लिया जाये कि ईश्वर ने ही इस विश्व की रचना की है तो यह कहना अधिक युक्तिसगत होगा कि वह भी अपूर्ण तथा सीमित ही है। परन्तु कोई भी ईश्वरभक्त उसे मनुष्य की भाति अपूर्ण तथा सीमित मानने के लिए उद्यत नहीं होगा। इसके अतिरिक्त प्रयोजनमूलक प्रमाण के आधार पर 'एक' ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित नही किया जा सकता। विश्व के एक रचयिता के विरुद्ध ह्यूम

(91) वही पुस्तक, भाग 2, पृ० 23।

के इस मत को फिलो ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है :—"आप अपनी प्राक्कल्पना के आधार पर एक ईश्वर को प्रमाणित करने के लिए कौन-सा तर्क दे सकते हैं ? एक भवन अथवा जहाज को बहुत-से व्यक्ति मिलकर ही बनाते हैं, · ·यह क्यो न मान लिया जाने कि इस विश्व की रचना भी बहुत-से देवताओ ने मिलकर ही की है ? इस मत का मानव-प्रयास के साथ कही अधिक साम्य अथवा सादृश्य है।"[92] इस प्रकार ह्यूम के मतानुसार प्रयोजनमूलक प्रमाण द्वारा अनिवार्यत केवल एक ईश्वर की सत्ता प्रमाणित नही होती। अन्त मे प्रयोजनमूलक युक्ति के विरुद्ध ह्यूम ने यह आपत्ति भी उठाई है कि इस युक्ति को स्वीकार कर लेने पर भी हमारे लिए तार्किक दृष्टि से यह मान लेना अनिवार्य नही है कि विश्व की रचना एक बुद्धिमान तथा विचारशील प्राणी—अर्थात् ईश्वर—ने की है। इसका कारण यह है कि विश्व मे अनेक ऐसे प्राणी तथा ऐसी वस्तुए हैं जिनकी उत्पत्ति का विवेक या बुद्धि से कोई सम्बन्ध नही है। उदाहरणार्थ पौधे पौधो से तथा पशु-पक्षी पशु-पक्षियो से उत्पन्न होते है और भौतिक वस्तुओ की उत्पत्ति का भी कोई बुद्धियुक्त स्रोत दृष्टिगोचर नही होता। ऐसी स्थिति मे यह कहना युक्तिसगत प्रतीत नही होता कि विश्व की रचना का एक ही कारण है और वह है बुद्धिमान तथा विवेकशील ईश्वर। इस प्रकार प्रयोजनमूलक प्रमाण के विरुद्ध उपर्युक्त सभी आपत्तियो द्वारा ह्यूम ने यह सिद्ध किया है कि इसके आधार पर एक, पूर्ण, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर के अस्तित्व को कभी प्रमाणित नही किया जा सकता।

प्रयोजनमूलक प्रमाण के समान ही ह्यूम ने परम्परागत कारणमूलक प्रमाण का भी दृढतापूर्वक खडन किया है। यह कारणमूलक प्रमाण इस मूल सिद्धान्त पर आधारित है कि प्रत्येक घटना अथवा वस्तु की उत्पत्ति का कोई कारण अवश्य होता है, क्योकि अकारण कुछ भी घटित नही हो सकता। यदि हम एक वस्तु को दूसरी वस्तु का तथा दूसरी वस्तु को तीसरी वस्तु का कारण मानकर निरतर कारणो की खोज करें तो हमारे समक्ष कारणो की अनन्त शृखला उपस्थित हो जाती है जिससे हम कभी मुक्त नही हो सकते। ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए जो दार्शनिक यह कारणमूलक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं उनका कथन है कि कारणो की इस अनन्त शृखला से बचने का एक ही उपाय है और वह यह है कि हम ईश्वर को ऐसे 'आदिकारण' के रूप मे स्वीकार करें जो विश्व की सभी वस्तुओ तथा घटनाओ का मूल कारण है। स्पष्ट है कि इन दार्शनिको के मतानुसार इस 'आदिकारण'—अर्थात् ईश्वर का कोई कारण नही हो सकता। कारणमूलक प्रमाण के इसी आत्मविरोध तथा उसकी इसी गम्भीर असगति के आधार पर ह्यूम ने इसका खडन किया है। इस प्रमाण मे निहित आत्मविरोध के सम्बन्ध मे ह्यूम के मत को अभिव्यक्त करते हुए फिलो कहता है कि "जिस कारण को आपने सतोषप्रद तथा अन्तिम माना है

(92) वही पुस्तक, भाग 5, पृ० 39।

हमे और आगे बढकर उसके कारण की खोज करने के लिए भी बाध्य होना पडेगा। हम उस ईश्वर के कारण के सम्बन्ध मे अपने आप को कैसे सतुष्ट कर सकते हैं जिसे आप प्रकृति और विश्व का रचयिता मानते हैं ? यदि हम ईश्वर को ही आदिकारण मानकर यही रुक जाते हैं और इससे आगे नही बढते तो हमे इतना आगे बढने की भी क्या आवश्यकता है ? हम भौतिक विश्व पर ही क्यो न रुक जायें—अर्थात् उसे ही आदिकारण क्यो न मान लें ? हम कारणो की इस अनन्त शृ खला को स्वीकार किये बिना अपने आपको कैसे सतुष्ट कर सकते हैं ?"[93] वस्तुत कारणमूलक प्रमाण के विरुद्ध ह्यूम की उपर्युक्त आपत्ति उचित एव युक्तिसगत ही प्रतीत होती है और मुख्यत इसी आपत्ति के आधार पर उन्होने इस प्रमाण का खडन किया है।

ईश्वर की सत्ता से सम्बन्धित उपर्युक्त दो मुख्य प्रमाणो का खडन करके ह्यूम ने यह सिद्ध किया है कि मनुष्य के लिए पूर्णतया अनुभवातीत विषय होने के कारण ईश्वर के अस्तित्व को किसी तर्क अथवा युक्ति द्वारा कभी प्रमाणित नही किया जा सकता। फिर यदि ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार कर भी लिया जाये तो ह्यूम के मतानुसार मनुष्य उसके स्वरूप के विषय मे निश्चयपूर्वक कुछ नही कह सकता। ईश्वर की सत्ता मे विश्वास करने वाले व्यक्ति अनेक गुणो तथा शक्तियो को ईश्वर मे आरोपित करके उसके स्वरूप का वर्णन करते हैं। वे उसे सवशक्तिमान, सर्वज्ञ सर्वव्यापक तथा दयालु मानते है और यह कहते है कि हमारी पूजा अथवा आराधना से प्रसन्न होकर वह हमारी सहायता करता है। ईश्वर के स्वरूप के विषय मे धर्म-परायण व्यक्तियो के इस मत को अस्वीकार करते हुए ह्यूम ने कहा है कि हम अपने सीमित अनुभव द्वारा उसके गुणो तथा उसकी शक्तियो के सम्बन्ध मे कुछ नही जान सकते। हम मनुष्य के कुछ गुणो तथा उसकी कुछ शक्तियो को ईश्वर मे आरोपित करके उसके स्वरूप का वर्णन करने का निष्फल प्रयास करते है। वस्तुत ईश्वर के अस्तित्व की भाति उसके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना भी हमारे लिए कदापि सम्भव नही है। ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध मे ह्यूम के इसी अज्ञेयवादी मत को अभिव्यक्त करते हुये फिलो कहता है कि "जब हम मानवीय विषयो तथा भौतिक वस्तुओ के गुणो से परे अपने चिन्तन को ब्रह्माड के उद्गम तथा निर्माण, आत्माओ के अस्तित्व एव गुणो, अनादि, अनन्त, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, शाश्वत तथा असीमित ईश्वर की शक्तियो और उसके गुणो की ओर ले जाते है तो हम ज्ञान-प्राप्ति की अपनी सीमाओ से बाहर जाने का प्रयास करते हैं। हम नही जानते कि इस विषय मे हमे तर्कसम्बन्धी अपनी सामान्य विधियो मे कहा तक विश्वास करना चाहिये।...
हमारे विचार हमारे अनुभव से आगे नही जा सकते। हमे ईश्वर के गुणों तथा उसकी कार्यप्रणाली का कोई अनुभव नही है। मुझे अपने इस तर्क का निष्कर्ष प्रस्तुत

(93) वही पुस्तक, भाग 4, पृ० 33-34।

करने की आवश्यकता नही है, आप स्वय ही इसका अनुमान लगा सकते हैं।"[94] इस प्रकार ह्यूम के मतानुसार मानव के अनुभव तथा ज्ञान की परिधि से बाहर होने के कारण ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध मे धर्मपरायण व्यक्तियो का यह मत उचित एव युक्तिसगत नही है कि उसमे अमुक गुण और शक्तियाँ है।

अपने 'डाएलाग्ज' के दसवें भाग मे ह्यूम ने विश्व मे अशुभ तथा दु ख की समस्या के आधार पर भी ईश्वर के उस स्वरूप को स्वीकार करने की तार्किक कठिनाई का विस्तृत उल्लेख किया है जिसका वर्णन प्राय धर्मपरायण व्यक्ति करते है। यदि ईश्वर-भक्तो के इस दावे को स्वीकार कर लिया जाये कि ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा दयालु है तो प्रश्न यह है कि इस ससार मे इतनी बुराई और इतना दु ख क्यो है ? यह अनुभवसिद्ध तथ्य है कि सभी प्राणी एक दूसरे को दुखी तथा भयत्रस्त करते रहते हैं और मानव-समाज मे घृणा, प्रतिशोध, अन्याय, अत्याचार, शोषण, निर्दयता आदि दुर्गुण विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त सभी प्राणी भूकम्प, बाढ, सूखा, तूफान आदि प्राकृतिक विपदाओ से भी प्राय दुखी और भयभीत रहते हैं। ऐसी स्थिति मे स्वभावत यह प्रश्न उठता है कि यदि इस विश्व का रचयिता ईश्वर वास्तव मे सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ तथा दयालु है तो वह इन सब बुराइयो तथा दु खो का निराकरण क्यो नही करता ? ह्यूम ने अनेक प्रबल तर्कों द्वारा यह सिद्ध किया है कि ईश्वर के परम्परागत धार्मिक स्वरूप को स्वीकार करने वाले व्यक्तियो के लिए इस प्रश्न का युक्तिसगत तथा सन्तोषप्रद उत्तर देना असम्भव है। इसका कारण यह है कि यदि इस विश्व के रचियता ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, दयालु तथा न्यायशील मान लिया जाये—जैसा कि ईश्वरवादी मानते हैं—तो ससार मे सर्वत्र विद्यमान अशुभ और दु ख की गम्भीर समस्या का सतोषजनक एव युक्तिसगत समाधान प्रस्तुत नही किया जा सकता। इस समस्या के सम्बन्ध मे ह्यूम के उपर्युक्त मत को अभिव्यक्त करते हुए फिलो कहता है —"हम यह मानते हैं कि ईश्वर की शक्ति असीमित है, वह जो कुछ चाहता है वही होता है, परन्तु कोई भी मनुष्य अथवा अन्य प्राणी सुखी नही है, इसका अर्थ यह है कि वह प्राणियो को सुखी नही देखना चाहता। उसका ज्ञान असीमित है, वह किसी साध्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक साधनो के चुनाव मे कभी भूल नही करता, परन्तु प्रकृति का विधान मनुष्य तथा अन्य किसी भी प्राणी के लिए सुखद एव हितकर नही है, इसका अभिप्राय यह है कि प्रकृति के विधान का निर्माण इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये नही किया गया। सम्पूर्ण मानवीय ज्ञान के इतिहास मे उपर्युक्त अनुमानो की अपेक्षा अधिक निश्चित एव सत्य अनुमान उपलब्ध नही है। फिर किस दृष्टि से ईश्वर की परोपकारशीलता और दया मनुष्य की परोपकारशीलता तथा दया के समान मानी जा सकती है ? · · क्या ईश्वर बुराई का निराकरण करना चाहता है किन्तु कर

(94) वही पुस्तक, भाग 1, पृ० 9, 10, भाग 2, पृ० 16।

नही पाता ? यदि ऐसा है तो वह शक्तिहीन है। क्या वह बुराई को समाप्त कर सकता है किन्तु करना नही चाहता ? यदि ऐसी बात है तो वह परोपकारी और दयालु नही है। क्या वह बुराई का निराकरण कर सकता है और करना भी चाहता है ? यदि ऐसा है तो फिर ससार मे बुराई क्यो है ?"[95] जहा तक मुझे ज्ञात है, फिलो के माध्यम से पूछे गये ह्यूम के इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का ईश्वरवादियो के पास कोई युक्तिसगत तथा सतोषजनक उत्तर नही है। वस्तुत अशुभ की इस समस्या का तर्कसगत समाधान करने के लिए यह अनिवार्य प्रतीत होता है कि या तो ईश्वर के तीन गुणो—सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता एव परोपकारशीलता—मे से उसमे किसी एक गुण को आरोपित न किया जाये या फिर बुराई तथा दु ख को भ्रम मात्र मानकर उसके अस्तित्व को ही अस्वीकार कर दिया जाये जैसा कि लाइबनीज, बरकले तथा कुछ अन्य दार्शनिको ने किया है। प्रथम विकल्प को ईश्वरवादी स्वीकार नही कर सकते और दूसरा विकल्प हमारे सामान्य अनुभव के नितान्त विपरीत होने के कारण अयथार्थ तथा अमान्य है। इस प्रकार ह्यूम ने यह प्रमाणित किया है कि ईश्वर के परम्परागत धार्मिक स्वरूप को स्वीकार कर लेने पर अशुभ की समस्या का सतोषप्रद समाधान असम्भव हो जाता है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि ह्यूम के मतानुसार हम अपने सीमित अनुभव एव ज्ञान के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व तथा उसके गुणो और उसकी शक्तियो के सम्बन्ध मे निश्चयपूर्वक कुछ नही कह सकते। वस्तुत. यह निष्कर्ष ह्यूम के सशयवाद तथा असशयवाद की पुष्टि करता है जो उनके सम्पूण अनुभववादी दर्शन के अनुरूप ही है। वे स्पष्टत और निश्चयपूर्वक यह नही कहते कि ईश्वर का अस्तित्व नही है, अत उन्हे सकुचित अर्थ मे 'नास्तिक' मानना कुछ कठिन ही प्रतीत होता है। परन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वे किसी भी अर्थ मे ईश्वरवाद तथा उस पर आधारित धर्म का समर्थन नही करते। इसके विपरीत धर्म तथा ईश्वर के अस्तित्व और स्वरूप के विषय मे उन्होने जो कुछ कहा है उससे पूर्णतया स्पष्ट है कि वे ईश्वर की परम्परागत अवधारणा तथा उस पर आधारित धर्म मे विश्वास नही करते। कुछ विचारको ने फिलो के एक कथन को उद्धरित करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ह्यूम वास्तव मे ईश्वर के अस्तित्व को तो स्वीकार करते है किन्तु वे केवल इतना ही कहते है कि हम अपने सीमित अनुभव एव ज्ञान के आधार पर उसके स्वरूप के सम्बन्ध मे निश्चयपूर्वक कुछ नही कह सकते। ईश्वर के अस्तित्व और स्वरूप के विषय मे फिलो का यह कथन निम्नलिखित है —"निश्चय ही जब विचारशील व्यक्ति तर्कसगत रूप से इस विषय पर विचार करते है तो उनके समक्ष प्रश्न ईश्वर के अस्तित्व का नही अपितु उसके स्वरूप का ही होता है। ईश्वर के अस्तित्व के विषय मे प्रश्न नही उठाया जा सकता, क्योकि वह स्वत सिद्ध है। कारण के विना किसी वस्तु का अस्तित्व सम्भव

(95) वही पुस्तक, भाग 10 पृ॰ 66

नही है, अत इस ब्रह्माण्ड के मूल कारण को—चाहे उसका स्वरूप कुछ भी हो—हम 'ईश्वर' कहते है और बड़े सम्मान के साथ उसमे सभी प्रकार की पूर्णता को आरोपित करते हैं।"[96] फिलो का उपर्युक्त कथन ईश्वर के अस्तित्व और स्वरूप से सम्बन्धित ह्यूम के मत को युक्तिसगत रूप से स्पष्ट करने मे निश्चय ही बहुत बडी कठिनाई उत्पन्न करता है। इसका कारण यह है कि परम्परागत धार्मिक विचार-धारा के कट्टर समर्थक डेमिया ने भी ईश्वर के अस्तित्व और स्वरूप के विषय मे ठीक यही मत व्यक्त किया है। अब प्रश्न यह है कि क्या इस सम्बन्ध मे फिलो का मत वास्तव मे डेमिया के मत के समान ही है ? यदि इस प्रश्न का उत्तर 'हा' मे दिया जाये तो ईश्वर की सत्ता से सम्बन्धित प्रयोजनमूलक युक्ति और कारणमूलक प्रमाण के विषय मे फिलो ने जो कुछ कहा है वह सब असत्य तथा असगत हो जाता है। यह कहना अत्यन्त कठिन है कि ह्यूम फिलो के उपर्युक्त कथन के इस परिणाम को स्वीकार करने के लिए उद्यत होगे। सम्भवत॰ इसी कारण ए एच बेसन ने कहा है कि डेमिया के मत का समर्थन करने वाले फिलो के इस कथन का तार्किक दृष्टि से अधिक महत्व नही है।[97] हम देख चुके है कि ईश्वर को विश्व का आदि कारण न मानते हुए उसका भी कारण जानने का आग्रह करके स्वय फिलो ने कारण-मूलक प्रमाण का युक्तिसगत खडन किया है। ऐसी स्थिति मे ईश्वर के अस्तित्व के विषय मे फिलो का उपर्युक्त कथन निश्चय ही स्वतोव्याघाती माना जायेगा, क्योकि यदि उसका यह कथन सत्य है तो उसे परम्परागत कारणमूलक प्रमाण को पूर्णतया स्वीकार करना होगा जिसके लिए वह उद्यत प्रतीत नही होता। इस प्रकार फिलो का उपर्युक्त कथन उसके सम्पूर्ण सशयवादी दृष्टिकोण के ठीक विपरीत होने के कारण उसके विचारो मे गम्भीर असगति एव स्वतोव्याघात उत्पन्न करता है। वस्तुत इस प्रश्न का युक्तिसगत एव सन्तोषजनक उत्तर देना अत्यन्त कठिन है कि आखिर ह्यूम ने ईश्वर के अस्तित्व और स्वरूप के विषय मे फिलो के मुख से उपर्युक्त मत क्यो अभिव्यक्त किया है। आरम्भ से अन्त तक फिलो के सम्पूर्ण सशयवादी दृष्टि-कोण को ध्यान मे रखते हुए सम्भवत यही कहा जा सकता है कि पूर्णत असगत एव स्वतोव्याघातो होने के कारण ईश्वर के अस्तित्व और स्वरूप के सम्बन्ध मे उसका यह कथन उसके वास्तविक मत को अभिव्यक्त नही करता। ऐसी स्थिति मे फिलो के इस एक कथन के आधार पर ही यह निष्कर्ष निकालना उचित और तर्क-सगत प्रतीत नही होता कि ह्यूम ईश्वर की सत्ता मे विश्वास करते थे। वस्तुत इस सम्बन्ध मे हेनरी डेविड आइकन ने ठीक ही कहा है कि "ह्यूम के सम्पूर्ण विश्लेषण मे यही ज्ञात होता है कि ईश्वर का स्वरूप एक ऐसी पहेली है जिसका समाधान असम्भव है। इसके अतिरिक्त ह्यूम ने ईश्वर—चाहे उसका स्वरूप कुछ भी हो—के अस्तित्व से सम्बन्धित किसी भी प्रमाण को असदिग्ध रूप से स्वीकार नही किया।

(96) वही पुस्तक, भाग 2, पृ॰ 16।
(97) देखिए ए. एच बेसन, 'डेविड ह्यूम', पृ॰ 105-106।

• यदि ईश्वर के स्वरूप को निर्धारित करना असम्भव है और उसके अस्तित्व से सम्बन्धित कोई भी प्रमाण सत्य एव युक्तिसगत नही है तो यह कहना पूर्णतया निरर्थक है कि उसका अस्तित्व है।"[98] इस दृष्टि से विचार करने पर ह्यूम का मत निरीश्वरवाद के अधिक निकट प्रतीत होता है।

(27) चमत्कारो और आत्मा की अमरता का खंडन

ईश्वर के अस्तित्व मे सदेह करने के साथ-साथ ह्यूम ने चमत्कारो की सम्भावना का भी दृढतापूर्वक खडन किया है। लगभग सभी लोकप्रिय धर्मों मे इन चमत्कारो को धर्म का अनिवार्य अग माना जाता है, क्योकि इन्ही के आधार पर धर्मगुरुओ तथा ईश्वर मे जनसाधारण की आस्था उत्पन्न की जाती है और उसे निरन्तर बनाये रखा जाता है। परन्तु चमत्कारो मे आस्था रखने को 'अन्धविश्वास' की सज्ञा देकर ह्यूम ने इनकी सम्भावना का पूणतया निषेध किया है। चमत्कारो के विरुद्ध उनके मुख्य तर्को का उल्लेख करने से पूर्व यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उन्होने 'चमत्कार' की क्या परिभाषा दी है। प्रत्येक चमत्कार को प्राकृतिक नियमो के विरुद्ध बताते हुए वे कहते है कि "किसी दैवी शक्ति अथवा अदृश्य व्यक्ति की विशेष इच्छा या हस्तक्षेप के कारण प्रकृति के नियम का उल्लघन करके घटित होने वाली घटना ही चमत्कार है।"[99] इस प्रकार ह्यूम केवल ऐसी घटना को ही 'चमत्कार' की सज्ञा देते हैं जो हमारे सम्पूर्ण अनुभव के विपरीत और समस्त प्राकृतिक नियमो के विरुद्ध है। उदाहरणार्थ काफी समय के पश्चात् मृत व्यक्ति का जीवित हो जाना, तथाकथित दैवी शक्तिसम्पन्न किसी धर्मगुरु के स्पर्शमात्र से किसी रोगी के असाध्य रोग का तुरन्त समाप्त हो जाना, किसी धर्मगुरु की कृपा के फलस्वरूप उपचार के विना ही दृष्टिहीन अथवा बधिर को तुरन्त दृष्टि या श्रवणशक्ति प्राप्त हो जाना आदि घटनाओ को हमारे सामान्य अनुभव तथा प्राकृतिक नियमो के नितान्त विरुद्ध होने के कारण ह्यूम के मतानुसार चमत्कारो के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है। उन उदाहरणो से स्पष्ट है कि किसी घटना को 'चमत्कार' तभी कहा जा सकता है जब वह हमारे अनुभव तथा प्राकृतिक नियमो के नितान्त विपरीत हो और उसके घटित होन का एकमात्र कारण किसी दैवी शक्ति की इच्छा अथवा हस्तक्षेप हो। लगभग सभी धर्मगुरु तथा उनके अनुयायी इस प्रकार के चमत्कारो की सत्यता मे विश्वास करते रहे है और उन्होने इनके आधार पर स्वय अपने धार्मिक सिद्धान्तो एव ईश्वरीय शक्ति मे सामान्य व्यक्तियो की अन्धश्रद्धा बनाये रखने का सदैव निरन्तर प्रयास किया है। परन्तु अनुभव को सम्पूर्ण मानवीय ज्ञान का एकमात्र आधार मानने के कारण ह्यूम ऐसे चमत्कारो की सम्भावना को

(98) हेनरी डेविड आइकन, 'डायलाग्ज कन्सर्निंग नेचरल रिलीजन' 'इन्ट्रोडक्शन', पृ० 14।
(99) 'ऐन इन्क्वायरी कन्सर्निंग ह्यूमन अण्डरस्टैंडिंग', खण्ड 10 ए ए बर्ट द्वारा सम्पादित 'इगलिश फिलॉसॉफर्ज' मे सकलित पृ० 657।

भी स्वीकार नही करते ।

चमत्कारो के विरुद्ध ह्यूम ने अनेक प्रवल तथा विश्वसनीय तर्क प्रस्तुत किये हैं । उनका प्रथम तर्क यह है कि चमत्कार उन प्राकृतिक नियमो के विरुद्ध है जिन पर सम्पूर्ण मानवीय अनुभव तथा वैज्ञानिक सिद्धान्त आधारित हैं । ह्यूम यह स्वीकार करते है कि प्राकृतिक नियमो के समुचित ज्ञान के आधार पर मनुष्य अनेक आश्चर्यजनक एव अद्भुत कार्य कर सकता है, किन्तु ये सभी कार्य उन नियमो के अनुरूप ही होंगे, अत. उन्हें 'चमत्कार' नही कहा जा सकता । केवल ऐसी घटना को ही 'चमत्कार' माना जा सकता है जिसकी प्राकृतिक नियमो के आधार पर व्याख्या करना नितान्त असम्भव हो । ह्यूम का निश्चित मत है कि हमारा अनुभव ऐसी किसी घटना को न तो प्रमाणित करता है और न कर सकता है । इसके विपरीत हमारा अनुभव वास्तव मे ऐसी चमत्कारपूर्ण घटनाओ का खडन ही करता है । चमत्कारो के विरुद्ध अपने इसी तर्क को प्रस्तुत करते हुए ह्यूम ने लिखा है कि चमत्कार प्राकृतिक नियमो का उल्लघन है और हमारे दृढ तथा अपरिवर्तनीय अनुभव द्वारा इन नियमो की पुष्टि होती है, अत चमत्कार के विरुद्ध अनुभव पर आधारित यह प्रमाण उतना ही सशक्त है जितना कोई अनुभवाधारित तर्क हो सकता है । · · प्रत्येक चमत्कारपूर्ण घटना हमारे सम्पूर्ण अनुभव के विरुद्ध होनी चाहिए, अन्यथा उसे 'चमत्कार' नही माना जा सकता । हमारा सार्वभौमिक अनुभव ही किसी घटना को प्रमाणित कर सकता है, अत इस अनुभव के विपरीत होना ही प्रत्येक चमत्कार के विरुद्ध प्रत्यक्ष तथा विश्वसनीय प्रमाण है ।"[100] चमत्कारो के विरुद्ध ह्यूम का दूसरा तर्क यह है कि ये मानव की तर्कबुद्धि पर आधारित न होकर अन्धश्रद्धा पर ही आधारित होते हैं । चमत्कारो मे विश्वास करने वाले व्यक्ति स्वय यह स्वीकार करते हैं कि तर्कबुद्धि द्वारा इनकी सत्यता की परीक्षा नही की जा सकती । इसका अर्थ यही है कि चमत्कारो की सत्यता मे विश्वास करने के लिए किसी धर्मगुरु अथवा दैवी शक्ति मे अन्धश्रद्धा होना आवश्यक है । यही कारण है कि प्राय अशिक्षित तथा अर्धशिक्षित व्यक्ति चमत्कारो की सम्भावना और सत्यता मे अधिक सरलतापूर्वक विश्वास कर लेते हैं । ह्यूम ने स्पष्ट कहा है कि जिन जातियो तथा देशो मे प्राकृतिक नियमो से अनभिज्ञ व्यक्तियो की सख्या जितनी अधिक होती है उनमे चमत्कारो के प्रति उतनी ही प्रवल आस्था पायी जाती है । चमत्कारो से सम्बन्धित झूठी कहानियाँ ऐसे व्यक्तियो मे धर्मगुरुओ तथा दैवी शक्तियो के प्रति आश्चर्य और सम्मानमिश्रित भय उत्पन्न करती है । इस प्रकार एकमात्र अन्धश्रद्धा पर आधारित होने के कारण चमत्कारो की सम्भावना को स्वीकार नही किया जा सकता । चमत्कारो के विरुद्ध ह्यूम ने तीसरा तर्क यह भी दिया है कि इनकी सत्यता को कोई भी व्यक्ति निश्चित रूप से कभी प्रमाणित नही कर सका । सभी धर्मों के इतिहास मे चमत्कारो की अनेक कहानिया प्रचलित हैं, किन्तु हमारे लिए यह

(100) वही पुस्तक, पृ० 656–657 ।

जानना असम्भव है कि इनमे कितनी सच्चाई अथवा वास्तविकता है। ये कहानियाँ धार्मिक भावनाओ पर ही आधारित होती हैं, अत अधिकतर व्यक्ति तर्कबुद्धि द्वारा इनकी सत्यता की परीक्षा किये बिना ही इनमे तुरन्त सरलतापूर्वक विश्वास कर लेते है, इसी कारण चमत्कारो के प्रति उनकी आस्था बढती जाती है। सक्षेप मे इन्ही सब तर्कों के आधार पर ह्यूम ने चमत्कारो की सम्भावना को पूर्णतया अस्वीकार किया है। इस विषय पर अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि "हम इस तथ्य को सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार कर सकते हैं कि किसी भी मानवीय प्रमाण मे इतनी क्षमता नही है कि वह चमत्कार को प्रमाणित कर सके और उसे धार्मिक व्यवस्था का समुचित आधार बना सके। ... सब मिलाकर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ईसाई धर्म केवल प्राचीन काल मे ही चमत्कारो से सम्बद्ध नही था अपितु आज भी चमत्कारो के बिना इसमे कोई व्यक्ति विश्वास नही कर सकता। केवल तर्कबुद्धि इसकी सत्यता मे हमारा विश्वास उत्पन्न करने के लिए अपर्याप्त है और जो व्यक्ति केवल आस्था के आधार पर इसको स्वीकार करता है उसके व्यक्तिगत जीवन मे चमत्कार को मानने की निरन्तर इच्छा बनी रहती है जो उसकी तर्कशक्ति को नष्ट करके अपने अनुभव के नितान्त विपरीत बातो को भी मानने के लिए उसे बाध्य कर देती है।"[101] इस प्रकार स्पष्ट है कि ह्यूम चमत्कारो को असम्भव ही नही प्रत्युत मनुष्य के सामान्य जीवन के लिए बहुत हानिकारक भी मानते हैं।

चमत्कारो के अतिरिक्त ह्यूम ने आत्मा की अमरता से सम्बन्धित विश्वास तथा पुनर्जन्म के विचार का भी खडन किया है। हम पहले ही यह बता चुके हैं कि उन्होंने अपनी मृत्यु से कुछ समय पूर्व जेम्स बासवेल से स्पष्ट कहा था कि वे आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म मे विश्वास नही करते। वास्तव मे पूर्णत अनुभववादी दार्शनिक होने के कारण ह्यूम के लिए आत्मा की अमरता को स्वीकार करना तार्किक दृष्टि से असम्भव था। उनकी ज्ञानमीमासा का मूल सिद्धान्त ही यह है कि हम केवल उन्ही वस्तुओ का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जिनके सस्कार ग्रहण करना हमारे लिए सम्भव हो। इसका अर्थ यह है कि हम जिस वस्तु का सस्कार ग्रहण नही कर सकते उसके अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त करना भी हमारे लिए सम्भव नही है। इसी आधार पर ह्यूम ने आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार किया है। आत्मा की सत्ता मे विश्वास करने वाले दार्शनिक यह मानते हैं कि वह अभौतिक और पूर्णतया अनुभवातीत है। स्पष्ट है कि यह आत्मा हमारे ज्ञान का विषय नही हो सकती, अत हमारे पास इसके अस्तित्व मे विश्वास करने का कोई तार्किक आधार नही है। इस सम्बन्ध मे ह्यूम का वह वक्तव्य सर्वविदित ही है जिसमे उन्होंने स्पष्ट कहा है कि शीत, उष्ण, प्रेम घृणा, सुख, दुःख आदि प्रत्यक्षो तथा भावनाओ से अलग द्रव्य के रूप मे आत्मा की कोई सत्ता नही है—अर्थात् विभिन्न सस्कारो तथा भावनाओ के समूह का नाम

(101) वही पुस्तक, पृ० 665–667।

ही आत्मा है। इस प्रकार बौद्ध दार्शनिकों की भाँति ह्यूम भी स्वतन्त्र द्रव्य के रूप मे आत्मा की सत्ता को अस्वीकार करते हैं।

आत्मा के विषय मे ह्यूम के उपर्युक्त मत का अनिवार्य निष्कर्ष यही हो सकता है कि आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म का विचार अन्धविश्वास मात्र है। जब आत्मा का अस्तित्व ही नही है तो उसके अमर रहने तथा दूसरा जन्म ग्रहण करने का प्रश्न ही नही उठता। इसी आधार पर आत्मा की अमरता के विचार को अस्वीकार करते हुए ह्यूम ने कहा है कि "केवल तर्कबुद्धि द्वारा आत्मा की अमरता को प्रमाणित करना कठिन प्रतीत होता है। · · इसे सिद्ध करने के लिए तत्त्व-मीमांसा अथवा नैतिकता से सम्बन्धित युक्तियाँ दी जाती है। परन्तु तत्व-मीमांसा हमे बताती है कि द्रव्य का विचार नितान्त अस्पष्ट तथा अपूर्ण है और हमारे मन मे विशेष गुणो के समूह के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य का प्रत्यय नही है।[102] इस प्रकार ह्यूम अपने अनुभववादी दर्शन द्वारा आत्मा की अमरता और उस पर आधारित पुनर्जन्म के विचार का खण्डन करते हैं। वास्तव मे इससे भी धर्म के प्रति उनकी अनास्था ही व्यक्त होती है।

(28) धर्म का दुरुपयोग

हम पिछले खण्डो मे देख चुके हैं कि धर्म के सम्बन्ध मे ह्यूम का दृष्टिकोण पूर्णत निषेधात्मक है, क्योकि वे ईश्वर की सत्ता, चमत्कारो की सम्भावना, आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म की अवधारणा आदि धर्म के सभी प्रमुख पक्षो का खण्डन करते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उनका उद्देश्य किसी धर्म विशेष को अस्वीकार करना नही अपितु प्राचीन काल के मानव-समाज मे प्रचलित धर्म की परम्परागत अवधारणा का ही निषेध करना है। वे धर्म की इस अवधारणा को मानव-जीवन के लिए अनावश्यक तथा अनुपादेय ही नही प्रत्युत बहुत हानिकारक और घातक भी मानते है। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि धर्म के प्रति ह्यूम का उपर्युक्त निषेधात्मक दृष्टिकोण कहाँ तक उचित एव युक्तिसगत है। कुछ आलोचको ने उन पर यह आरोप लगाया है कि धर्म के प्रति उनका यह दृष्टिकोण एकागी है, क्योंकि वे मनुष्य मे धर्म द्वारा उत्पन्न सद्गुणो की अवहेलना करके उसकी कमिया, बुराइया, तथा उसके दोषो को ही हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं। वे हमे यह तो बताते है कि धर्म ने मानव-समाज मे अन्याय, अत्याचार, शोषण, घृणा तथा प्रति-शोध की भावना को जन्म दिया है, किन्तु वे इस सम्बन्ध मे कुछ नही कहते कि धर्म ने मनुष्यो मे एक दूसरे के प्रति प्रेम, करुणा तथा पारस्परिक सहायता की भावना भी उत्पन्न की है। इस आरोप के उत्तर मे ह्यूम सम्भवत यह कह सकते हैं कि प्रेम, सहानुभूति, परोपकारशीलता आदि भावनाए मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तिया हैं, यदि मनुष्य इनके अनुरूप आचरण करता है तो इसके लिए धर्म को श्रेय देना उचित

(102) डेविड ह्यूम, 'एसेज—मारल ऐण्ड पौलिटिकल', वोल्यूम 2, पृ० 399।

यही निष्कर्ष निकाल सकते है कि कानून, विज्ञान एव राजनीति की भाँति धर्म का भी दुरुपयोग किया जा सकता है तथा किया गया है और ह्यूम ने अपने धर्म-दर्शन द्वारा इसी दुखद तथ्य का ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करके हमे अधिक सावधान एव सतर्क रहने के लिए प्रेरित किया है।

□ □ □

सहायता से हम मनुष्य के सामाजिक व्यवहार के विषय मे कुछ प्राक्कल्पनाओ का निर्माण कर सकते हैं और इन प्राक्कल्पनाओ के आधार पर उसके इस व्यवहार के सम्बन्ध मे हम कुछ सीमा तक भविष्यवाणी भी कर सकते है। परन्तु राजनीति गणित की भाति निश्चित विज्ञान नही है, अत इसके सिद्धातो की सहायता से की गई मानवीय व्यवहार सम्बन्धी भविष्यवाणी के गलत सिद्ध होने की सम्भावना सदा बनी रहती है। इसी कारण ह्यूम का मत है कि राजनीति सम्बन्धी सभी सामान्य सिद्धातो की स्थापना बहुत सावधानीपूर्वक की जानी चाहिए। मनुष्य की इच्छाओ तथा आवश्यकताओ से प्रत्यक्षत सम्बद्ध होने के कारण राजनीति उतना निश्चित विज्ञान नही हो सकता जितना गणित और कुछ अन्य भौतिक विज्ञान है। फिर भी ह्यूम राजनीति को मनुष्य के सामाजिक व्यवहार का बहुत महत्वपूर्ण विज्ञान मानते हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि 'परम्परावादी' तथा 'उदारवादी' इन दो मुख्य विचारधाराओ मे से ह्यूम किस विचारधारा का समर्थन करते थे। इस प्रश्न के उत्तर मे अधिकतर विद्वानो का कथन है कि वे 'उदारवादी' विचारधारा के दृढ समर्थक थे। राजनीति-दर्शन सम्बन्धी ह्यूम की रचनाओ मे इस उदारवादी विचारधारा का समर्थन स्पष्टत दिखाई देता है। वे प्रत्येक मनुष्य के लिए व्यक्तिगत स्वाधीनता को बहुत आवश्यक मानते थे और इसी कारण इग्लैंड के तत्कालीन उपनिवेश अमेरिका के स्वाधीनता-सघर्ष के प्रति उनकी गहरी सहानुभूति थी। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि हिस्ट्री आफ इग्लैंड' द्वारा सम्पूर्ण यूरोप मे मनुष्य की व्यक्तिगत स्वाधीनता का समर्थन करने वाली उदारवादी विचारधारा का पर्याप्त प्रचार हुआ। मनुष्य की व्यक्तिगत स्वाधीनता के समर्थन के विषय मे उनके उदार विचारो का ऐडम फरगुसन, डुगाल्ड स्टिवार्ट, ऐडम स्मिथ आदि अनेक परवर्ती विचारको के दर्शन पर बहुत प्रभाव पडा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ह्यूम के इन उदार विचारो का प्रभाव केवल यूरोप तक ही सीमित नही रहा। ब्रिटिश उपनिवेशवादी शासन के विरुद्ध अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए सघर्ष करने वाले तत्कालीन अमरीकी नेताओ ने उनके इन विचारो से पर्याप्त प्रेरणा प्राप्त की। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राजनैतिक दृष्टि से ह्यूम उस विचारधारा के समर्थक थे जिसे वास्तविक लोकतन्त्र की अनिवार्य आधारशिला माना जाता है। परन्तु दुर्भाग्यवश आधुनिक युग में अधिकतर विद्वानो ने उनके राजनीति-दर्शन की प्राय उपेक्षा की है। आज भी ज्ञानमीमासा, नैतिक दर्शन तथा धर्मदर्शन के क्षेत्रो मे ही ह्यूम के महत्त्व और प्रभाव को स्वीकार किया जाता है, राजनीति-दर्शन के क्षेत्र मे नही। ह्यूम के दर्शन पर लिखित बहुत कम पुस्तको मे राजनीति-दर्शन के विषय मे उनके विचारो का उल्लेख प्राप्त होता है। परन्तु, जैसा कि हम ऊपर सकेत कर चुके हैं, राजनीति-दर्शन के क्षेत्र मे भी ह्यूम के विचारो का पर्याप्त महत्त्व है। अगले खडो मे राजनीति दर्शन सम्बधी उनके कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धातो के विवेचन से इस तथ्य की सत्यता निश्चित रूप से प्रमाणित हो जायेगी।

समझौते का परिणाम नही हो सकता। वस्तुत ह्यूम यह मानते हैं कि मनुष्य ने परस्पर समझौते द्वारा किसी विशेष समय पर समाज का निर्माण नही किया, अपितु समाज मे रहते हुए उसने यह अनुभव किया कि सामाजिक सगठन उसके लिए बहुत उपयोगी तथा अनिवार्य है। स्पष्ट रूप से परस्पर कोई समझौता किये बिना भी बहुत-से व्यक्ति अनेक ऐसे कार्य कर सकते हैं जो सबके लिए समान रूप से लाभदायक हो। इसी तथ्य को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए ह्यूम ने कहा है कि नाव मे बैठे दो व्यक्ति पहले से एक-दूसरे के साथ कोई समझौता किये बिना ही मिलकर नाव चलाते हैं, क्योकि ऐसा करने मे ही उन दोनो का हित है। यही बात समाज मे रहने वाले मनुष्यो के लिए सामाजिक सगठन की उपयोगिता के विषय मे भी कही जा सकती है।[105] इस प्रकार ह्यूम समाज की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे समझौता-सिद्धान्त का खडन करते हैं।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि यदि समाज की उत्पत्ति मनुष्यो मे पारस्परिक समझौते के फलस्वरूप नही हुई तो इसकी उत्पत्ति का मूल आधार क्या है। इस प्रश्न के उत्तर मे ह्यूम का कथन है कि वस्तुत परिवार ही समाज की उत्पत्ति का मूल आधार है। नैसर्गिक कामवासना के कारण विपरीत लिंगीय व्यक्ति स्वभावत एक-दूसरे के प्रति आकृष्ट होते हैं और इसी स्वाभाविक आकर्षण से प्रेरित होकर वे सतान को जन्म देते हैं जिससे परिवार का निर्माण होता है। पारस्परिक नैसर्गिक आकर्षण तथा अपनी सतान के प्रति स्वाभाविक स्नेह ये दोनो कारण स्त्री और पुरुष को परिवार मे एक-दूसरे के साथ रहने के लिए प्रेरित करते है। यह परिवार ही समाज की प्रथम इकाई और आधारशिला है। इस प्रकार ह्यूम के विचार मे स्त्री और पुरुष का एक-दूसरे के प्रति कामवासनापूर्ण नैसर्गिक आकर्षण ही परिवार तथा समाज का मूल आधार है।[106] समाज की उत्पत्ति के विषय मे अपनी इसी आधारभूत मान्यता के कारण ही उन्होने हॉब्स के उस सिद्धान्त का खडन किया है जिसके अनुसार समाज मे सगठित होने से पूर्व प्रत्येक व्यक्ति नितात अकेला और पूर्णत स्वार्थी था। ह्यूम का निश्चित मत है कि मनुष्य कभी भी ऐसी समाजरहित स्थिति मे नही रहा, क्योकि जीवन के आदि काल से ही उसे परिवार तथा समाज की अनिवार्यता का अनुभव होने लगा था। इसका अर्थ यही है कि मनुष्य आदि काल से ही अनिवायत किसी न किसी प्रकार के सामाजिक सगठन मे अपना जीवन व्यतीत करता रहा है। अपनी इसी मान्यता के आधार पर मनुष्य की 'प्राकृतिक अवस्था' से सम्बन्धित हॉब्स के सिद्धान्त का खडन करते हुए ह्यूम ने लिखा है कि "मनुष्य के लिए दीर्घ काल तक समाज की उत्पत्ति से पूव वन्य अवस्था मे रहना नितात असम्भव है, अत उनकी आदि कालीन अवस्था को भी युक्तिसगत रूप से सामाजिक कहा जा सकता है। इस प्रकार यह प्राकृतिक अवस्था केवल कल्पना

(105) देखिये वही पुस्तक, बुक 3, पृ० 490।
(106) देखिये वही पुस्तक, बुक 3, पृ० 486।

न्याय को कृत्रिम सद्गुण मानते हैं फिर भी वे उसे प्रत्येक मनुष्य की व्यक्तिगत इच्छाओ पर निर्भर नही मानते । सम्पूर्ण मानव-जाति के लिए अनिवार्य होने के कारण उन्होंने न्याय के नियमो को 'प्राकृतिक नियम' कहा है । न्याय के इन नियमो के अन्तर्गत उन्होंने सम्पत्ति के अधिकार, पारस्परिक सहमति से उसके हस्तातरण तथा एक-दूसरे के साथ किये गये वादो को पूरा करने से सम्बन्धित नियमो का उल्लेख किया है । न्याय सम्बन्धी ये सभी नियम सामाजिक व्यवस्था के लिए अनिवार्य हैं, अत इन्हे किसी मनुष्य की व्यक्तिगत इच्छा पर आधारित नही माना जा सकता । इन नियमो द्वारा अतत सभी व्यक्तियो का हित होता है, इसी कारण प्रत्येक व्यक्ति के लिए इनका पालन करना अनिवार्य माना जाता है । समाज के लिए न्याय सम्बन्धी इन नियमो की अनिवार्यता का उल्लेख करते हुए ह्यूम ने स्पष्ट कहा है कि "सरकार के बिना मनुष्यो के लिए छोटे-से अव्यवस्थित समाज की रचना करना सम्भव है, किन्तु न्याय तथा उससे सम्बन्धित तीन नियमो—सम्पत्ति के अधिकार का नियम, पारस्परिक सहमति से उसके हस्तातरण का नियम और एक-दूसरे को दिये गये वचनो का पालन करने का नियम—के अभाव मे उनके लिए किसी प्रकार के समाज का निर्माण करना सम्भव नही है ।"[110] यहा यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ह्यूम के मतानुसार न्याय के सिद्धान्त और उससे सम्बद्ध उपर्युक्त तीन नियमो का विकास सामाजिक सगठन के साथ-साथ धीरे-धीरे हुआ है, किसी विशेष समय पर मनुष्यो के किसी एक समुदाय ने पारस्परिक विचार-विनिमय द्वारा इन नियमो का निर्माण नही किया । दूसरे शब्दो मे, न्याय का सिद्धान्त और उससे सम्बन्धित नियम किसी प्रकार के सामाजिक समझौते के परिणाम नही हैं । परन्तु, जैसा कि हम ऊपर देख चुके है, ह्यूम के विचार मे न्याय तथा उससे सम्बन्धित नियमो के बिना सुव्यवस्थित मानव-समाज का अस्तित्व असम्भव है ।

(31) सरकार का उदय

समाज की उत्पत्ति की भाति सरकार के उदय की व्याख्या भी ह्यूम ने मनुष्यो के लिए उसकी उपयोगिता के आधार पर ही की है । उनका विचार है कि समाज मे न्याय व्यवस्था, सुरक्षा तथा शाति बनाए रखने के लिए प्रशासन अथवा सरकार का होना बहुत आवश्यक है । यदि सभी व्यक्ति स्वभावत न्यायशील तथा शातिप्रिय होते और सदैव एक-दूसरे की सहायता करते तो समाज मे कभी भी किसी प्रकार की अशाति, असुरक्षा तथा अव्यवस्था न होती और ऐसी स्थिति मे मनुष्यो के लिए सरकार की भी कोई आवश्यकता न होती । परन्तु यह अनुभव सिद्ध तथ्य है कि सभी व्यक्ति शातिप्रिय एव न्यायशील नही होते, कुछ व्यक्ति

द्वारा सम्पादित 'दि फिलासफिकल वर्क्स आफ डेविड ह्यूम' मे सकलित, वोल्यूम 2, पृ० 267-68 ।

(110) वही पुस्तक, वोल्यूम 2, पृ० 306 ।

प्रकार अथवा किस विधि द्वारा हुआ । इस सम्बन्ध मे लगभग निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है कि समाज की उत्पत्ति की भाति सरकार के उदय के विषय मे भी ह्यूम समझौता-सिद्धान्त का समर्थन नही करते । उनका मत है कि सरकार का उदय मनुष्यो के पारस्परिक स्पष्ट समझौते के परिणामस्वरूप नही हुआ, क्योकि आदिकालीन मनुष्यो के लिए इस प्रकार का समझौता करना सम्भव प्रतीत नही होता । इसके अतिरिक्त सरकार की स्थापना के लिए मानव जाति के इतिहास मे इस प्रकार के समझौते का कोई स्पष्ट एव प्रबल प्रमाण भी उपलब्ध नही होता । इसी कारण सरकार की उत्पत्ति के विषय मे समझौता-सिद्धान्त का खडन करते हुए ह्यूम ने लिखा है कि "यह स्पष्ट है कि प्रशासन की सत्ता स्वीकार करने के लिए मनुष्यो मे स्पष्टत कोई समझौता नही हुआ, इस प्रकार के समझौते का विचार आदिकालीन मनुष्यो की सीमित बौद्धिक क्षमता से परे प्रतीत होता है ।'[113] इस प्रकार ह्यूम के मतानुसार किसी विशेष समय पर मनुष्यो ने पारस्परिक समझौते द्वारा सरकार का निर्माण नही किया जैसा कि कुछ दार्शनिक मानते हैं । ऐसी स्थिति मे स्वभावत यह प्रश्न उठता है कि सरकार की उत्पत्ति किस प्रकार हुई ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ह्यूम ने कहा है कि सरकार की उत्पत्ति का मूल कारण भिन्न-भिन्न कबीलो मे समय-समय पर होने वाला पारस्परिक सघर्ष अथवा युद्ध ही है । युद्ध के समय जो व्यक्ति कबीले का नेतृत्व करता था उसका प्रभाव युद्ध समाप्त होने के पश्चात् भी कबीले पर बना रहता था, अत शाति-काल में भी कबीले के सदस्य उसके आदेशो का पालन करते रहते थे । इस प्रकार युद्ध मे विजयी नेता ही कालान्तर मे कबीले का शासक बन जाता था । इस स्थिति को ह्यूम ने सरकार के उदय की प्रथम अवस्था कहा है । भिन्न-भिन्न कबीलो मे सरकार का उदय इसी पारस्परिक सघर्ष के परिणामस्वरूप ही हुआ । इस सम्बन्ध मे ह्यूम ने स्पष्ट कहा है कि "मैं यह मानता हूँ कि सरकार की उत्पत्ति एक ही कबीले के व्यक्तियो मे होने वाले सघर्ष से नही अपितु भिन्न-भिन्न कबीलो के व्यक्तियो मे होने वाले युद्ध के कारण ही हुई है ।"[114] सरकार की उत्पत्ति के विषय मे अपनी इसी मान्यता को अपने एक निबन्ध 'ऑफ दि ओरिजिनल कन्ट्रेक्ट' मे और अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त करते हुए वे कहते हैं कि 'वे सभी सरकारें जो इस समय विद्यमान है या जिनका इतिहास मे उल्लेख मिलता है मूलत अन्यायपूर्वक दूसरो पर अधिकार कर लेने अथवा युद्ध मे विजय या इन दोनो कारणो के फलस्वरूप ही स्थापित हुई हैं, इनकी स्थापना के लिए लोगो ने स्वेच्छया अपनी सहमति नही दी ।" स्पष्ट है कि ह्यूम मनुष्यो मे पारस्परिक समझौते के स्थान पर विभिन्न कबीलो के सघर्ष अथवा युद्ध को ही सरकार की उत्पत्ति का मूल कारण मानते हैं ।

(113) डेविड ह्यूम, 'आफ दि ओरिजिनल कन्ट्रेक्ट' ।
(114) डेविड ह्यूम, 'ए ट्रिटाइज आफ ह्यूमन नेचर', बुक 3, पृ० 539–40 ।

प्रकार अथवा किस विधि द्वारा हुआ। इस सम्बन्ध में लगभग निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है कि समाज की उत्पत्ति की भांति सरकार के उदय के विषय में भी ह्यूम समझौता-सिद्धान्त का समर्थन नहीं करते। उनका मत है कि सरकार का उदय मनुष्यों के पारस्परिक स्पष्ट समझौते के परिणामस्वरूप नहीं हुआ, क्योंकि आदिकालीन मनुष्यों के लिए इस प्रकार का समझौता करना सम्भव प्रतीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त सरकार की स्थापना के लिए मानव जाति के इतिहास में इस प्रकार के समझौते का कोई स्पष्ट एवं प्रबल प्रमाण भी उपलब्ध नहीं होता। इसी कारण सरकार की उत्पत्ति के विषय में समझौता-सिद्धान्त का खंडन करते हुए ह्यूम ने लिखा है कि "यह स्पष्ट है कि प्रशासन की सत्ता स्वीकार करने के लिए मनुष्यों में स्पष्टतः कोई समझौता नहीं हुआ, इस प्रकार के समझौते का विचार आदिकालीन मनुष्यों की सीमित बौद्धिक क्षमता से परे प्रतीत होता है।'[113] इस प्रकार ह्यूम के मतानुसार किसी विशेष समय पर मनुष्यों ने पारस्परिक समझौते द्वारा सरकार का निर्माण नहीं किया जैसा कि कुछ दार्शनिक मानते हैं। ऐसी स्थिति में स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि सरकार की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ह्यूम ने कहा है कि सरकार की उत्पत्ति का मूल कारण भिन्न-भिन्न कबीलों में समय-समय पर होने वाला पारस्परिक संघर्ष अथवा युद्ध ही है। युद्ध के समय जो व्यक्ति कबीले का नेतृत्व करता था उसका प्रभाव युद्ध समाप्त होने के पश्चात् भी कबीले पर बना रहता था, अतः शांति-काल में भी कबीले के सदस्य उसके आदेशों का पालन करते रहते थे। इस प्रकार युद्ध में विजयी नेता ही कालान्तर में कबीले का शासक बन जाता था। इस स्थिति को ह्यूम ने सरकार के उदय की प्रथम अवस्था कहा है। भिन्न-भिन्न कबीलों में सरकार का उदय इसी पारस्परिक संघर्ष के परिणामस्वरूप ही हुआ। इस सम्बन्ध में ह्यूम ने स्पष्ट कहा है कि "मैं यह मानता हूँ कि सरकार की उत्पत्ति एक ही कबीले के व्यक्तियों में होने वाले संघर्ष से नहीं अपितु भिन्न-भिन्न कबीलों के व्यक्तियों में होने वाले युद्ध के कारण ही हुई है।"[114] सरकार की उत्पत्ति के विषय में अपनी इसी मान्यता को अपने एक निबन्ध 'आफ दि ओरिजिनल कन्ट्रैक्ट' में और अधिक स्पष्ट रूप में व्यक्त करते हुए वे कहते हैं कि 'वे सभी सरकारें जो इस समय विद्यमान हैं या जिनका इतिहास में उल्लेख मिलता है मूलतः अन्यायपूर्वक दूसरों पर अधिकार कर लेने अथवा युद्ध में विजय या इन दोनों कारणों के फलस्वरूप ही स्थापित हुई हैं, इनकी स्थापना के लिए लोगों ने स्वेच्छया अपनी सहमति नहीं दी।" स्पष्ट है कि ह्यूम मनुष्यों में पारस्परिक समझौते के स्थान पर विभिन्न कबीलों के संघर्ष अथवा युद्ध को ही सरकार की उत्पत्ति का मूल कारण मानते हैं।

है। अधिकतर नागरिक यह अनुभव करते है कि यदि देश मे सुसगठित एव स्थिर सरकार न हो तो उनका जीवन शातिपूर्ण तथा सुरक्षित नही रह सकता, इसी कारण वे अपने देश की सरकार के प्रति प्राय निष्ठा बनाये रखते है। नागरिको की राजभक्ति के सम्बन्ध मे इसी उपयोगितामूलक कारण को स्पष्ट करते हुए अपने निबन्ध 'आफ दि ओरिजिनल कन्ट्रैक्ट' में ह्यूम ने लिखा है कि 'यदि मुझसे सरकार के आदेशों का पालन करने के लिए हमारे बाध्य होने का कारण पूछा जाये तो मेरा' उत्तर यह है कि इसके बिना समाज सगठित नही रह सकता और यह उत्तर सभी मनुष्यो को स्पष्टत समझ मे आता है।" इस प्रकार ह्यूम के विचार मे नागरिको की राजभक्ति मुख्यत उसके लिए सरकार की उपयोगिता पर आधारित है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि सरकार नागरिको के लिए उपयोगी न रहे तो उसके प्रति उनकी निष्ठा भी समाप्त हो जाती है। नागरिको की राजभक्ति के सम्बन्ध मे अपने उपयोगितावादी सिद्धान्त के इस निष्कर्ष को स्वय ह्यूम ने स्पष्टत स्वीकार किया है।[116] परन्तु उनका मत है कि सरकार के विरुद्ध विद्रोह के कारण नागरिको को बहुत हानि पहुच सकती है, अत उन्हे ऐसा विद्रोह तभी करना चाहिए जब सरकार जनता पर अत्याचार करने लगे। इससे स्पष्ट है कि ह्यूम ऐसी सरकार के प्रति निष्ठा रखना नागरिको का कर्तव्य नहीं मानते जो जनता पर अत्याचार करती है अथवा जो उसके लिए हितकर नही है। सक्षेप मे उनके मतानुसार नागरिको के कल्याण के लिए कार्य करने वाली सरकार ही वस्तुत उनकी निष्ठा की अधिकारिणी हो सकती है।

परन्तु ह्यूम यह स्वीकार करते है कि जो व्यक्ति बलपूर्वक देश के प्रशासन पर अधिकार करके सरकार बना लेते हैं और अपने इस अधिकार द्वारा देश मे शान्ति, सुरक्षा तथा व्यवस्था बनाये रखते है सामान्यत उन्ही व्यक्तियो के प्रति उस देश के नागरिक निष्ठा रखने लगते हैं। पर्याप्त समय व्यतीत हो जाने के पश्चात् बलपूर्वक स्थापित यह सरकार उस देश के नागरिको को पूर्णत उचित एव न्यायपूर्ण प्रतीत होने लगती है। इस प्रकार ह्यूम के विचार मे यदि कोई सरकार देश के नागरिको पर अत्याचार नही करती और उनके कल्याण के लिए कुछ कार्य करती है तो बलपूर्वक तथा अन्यायपूर्ण उपायो द्वारा स्थापित होने पर भी उसे नागरिक धीरे-धीरे पूर्णतया स्वीकार कर लेते हैं और उसके प्रति निष्ठा रखने लगते है।[117] इसका अर्थ यह है कि उनके मतानुसार सरकार के प्रति नागरिको की निष्ठा के लिए यह अनिवार्य नही है कि उसकी स्थापना स्वय नागरिको की सहमति द्वारा ही की गई हो। ह्यूम का यह मत युक्तिसगत ही प्रतीत होता है, क्योकि विश्व की राजनीति का लम्बा इतिहास इसी मत की पुष्टि करता है। रूस, चीन, पूर्वी यूरोप, लैटिन

(116) डेविड ह्यूम, 'ए ट्रिटाइज आफ ह्यूमन नेचर' बुक 3, पृ० 551।
(117) देखिए वही पुस्तक, बुक 3, पृ० 556-557।

प्रकार ह्यूम ने इस कटु सत्य को स्वीकार किया है कि मानव-समाज मे राष्ट्रीय कानूनो की अपेक्षा अतर्राष्ट्रीय कानूनो को कम महत्त्व दिया जाता है। इसी कारण राजनीति मे प्रेरित अतर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे न्याय और नैतिकता का वैसा महत्त्वपूर्ण स्थान नही है जैसा व्यक्तियो के पारस्परिक सम्बन्ध मे होता है। इस दृष्टि से ह्यूम मैकियावेली के इस मूल सिद्धान्त को कुछ सीमा तक स्वीकार करते हैं कि अतर्राष्ट्रीय जगत् मे प्रत्येक राष्ट्र न्याय और नैतिकता के सिद्धान्तो की चिंता किये बिना केवल अपने हित को ही सर्वाधिक महत्त्व देता है। फिर भी वे इस सिद्धान्त का समर्थन नही करते कि राष्ट्रो की नैतिकता व्यक्तियो की नैतिकता से पूर्णत भिन्न है। दूसरे शब्दो मे उनके मतानुसार नैतिकता के मूल सिद्धान्त व्यक्तियो तथा राष्ट्रो पर समान रूप से लागू होते हैं। मानव-जाति के लिए आदर्श राजनीति की दृष्टि से ह्यूम का यह मानवतावादी दृष्टिकोण निश्चय ही उचित एव प्रशसनीय है, किन्तु विश्व की राजनीति के दीर्घकालीन इतिहास मे इसे कभी भी पूर्णत कार्यान्वित नही किया जा सका और यह भी अत्यत सदेहास्पद है कि भविष्य मे इसे कभी वस्तुत कार्यान्वित किया जा सकेगा।

(34) यथार्थवाद

ह्यूम के राजनीति-दर्शन सम्बन्धी मुख्य सिद्धान्तो के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि उनके ये सिद्धान्त उच्चादर्शो अथवा दार्शनिक प्राक्कल्पनाओ पर आधारित न होकर व्यावहारिक अनुभव और ऐतिहासिक तथ्यो पर ही आधारित हैं। इन सिद्धान्तो का प्रतिपादन करते समय उन्होने इस बात पर विशेष ध्यान दिया है कि विश्व की राजनीति मे वस्तुत क्या होता रहा है। अपने इन यथार्थवादी सिद्धान्तो मे वे यह बताने का दावा नही करते कि विश्व की राजनीति का मूल आदर्श क्या है—अर्थात् राजनीतिज्ञो को क्या करना चाहिए। इसी कारण ह्यूम के राजनीति-दर्शन को 'व्यावहारिक' अथवा 'यथार्थवादी' दर्शन कहा जा सकता है। समाज और सरकार की उत्पत्ति समझौता-सिद्धान्त तथा राजभक्ति के विषय मे उन्होने जो विचार व्यक्त किये हैं वे उनके यथार्थवादी एव व्यावहारिक राजनीति-दर्शन के स्पष्ट तथा प्रबल प्रमाण हैं। हम देख चुके हैं कि उन्होने व्यावहारिक उपयोगिता के आधार पर ही समाज तथा सरकार के उदय की व्याख्या की है। इस सम्बन्ध मे वे कुछ दार्शनिको की सामाजिक समझौते की प्राक्कल्पना को स्वीकार नही करते। हा, वे यह अवश्य मानते हैं कि विभिन्न कबीलो मे पारस्परिक युद्ध के समय प्रत्येक कबीले के लोगो ने किसी एक शक्तिशाली व्यक्ति का नेतृत्व स्वीकार किया होगा जो बाद मे अपने कबीले का शासक बन गया। सरकार की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे ह्यूम की यह मान्यता कुछ दार्शनिको के समझौता-सिद्धान्त सम्बन्धी उस प्राक्कल्पना की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक एव यथार्थपूर्ण प्रतीत होती है जिसके अनुसार किसी विशेष समय पर लोगो ने एक साथ मिलकर पारस्परिक सहमति द्वारा किसी व्यक्ति

को अपना शासक चुन लिया। इसी प्रकार ह्यूम का यह मत भी अधिक व्यावहारिक तथा युक्तिसगत प्रतीत होता है कि विश्व मे सरकारो का उदय प्राय विद्रोह, युद्ध मे विजय अथवा अन्यायपूर्ण उपायो द्वारा बलपूर्वक सत्ता ग्रहण करने के फलस्वरूप ही हुआ है, शासित होने वाले लोगो की सहमति द्वारा नही। सरकार के प्रति नागरिको की राजभक्ति के सम्बन्ध में भी विश्व-राजनीति के इतिहास द्वारा उनकी इस मान्यता की पुष्टि होती है कि यदि बलपूर्वक स्थापित सरकार स्थायी है और वह नागरिको पर अत्याचार न करके उनके लाभ के लिए कार्य करती है तो वे उसके प्रति निष्ठा रखने लगते है। ह्यूम की यह मान्यता भी निश्चय ही व्यावहारिक अनुभव तथा ऐतिहासिक तथ्यो पर ही आधारित है। इस प्रकार मनुष्य के व्यावहारिक अनुभव द्वारा पुष्ट यथार्थवाद को ह्यूम के राजनीति-दर्शन की प्रमुख विशेषता माना जा सकता है जो उनके सम्पूर्ण अनुभववादी दर्शन के अनुरूप ही है।

कुछ विचारको का मत है कि 'उपयोगिता', 'जनहित', 'लाभ' आदि शब्दो का ठीक-ठीक अर्थ स्पष्ट न होने के कारण ह्यूम के राजनीति-दशन मे अस्पष्टता आ गई है। इसी मत को अभिव्यक्त करते हुए कोपल्स्टन ने लिखा है कि "उपयोगिता, लाभ तथा जनहित की बात करना बहुत अच्छा है, किन्तु यह स्वत स्पष्ट नही है कि व्यावहारिक जीवन मे इन शब्दो का अर्थ क्या है।"[119] सम्भवत ह्यूम अपने मूल नैतिक सिद्धान्त सुखवाद के आधार पर इस समस्या का समाधान कर सकते है। वे यह कह सकते है कि सरकार के जिन कानूनो द्वारा सर्वाधिक नागरिको को सुख प्राप्त होता है वे कानून ही 'उपयोगी', 'लाभदायक' अथवा 'जनहित मे सहायक' है। दूसरे शब्दो मे, उनके अनुसार नागरिको के लिए जो कुछ सुखद अथवा कल्याणकारी है उसे ही उपयोगी या लाभदायक माना जा सकता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सुखमूलक उपयोगितावाद ही ह्यूम के नैतिक दर्शन की भांति उनके राजनीति-दर्शन का भी आधारभूत सिद्धान्त है।

□□□

ह्यूम का महत्त्व और प्रभाव

पिछले खण्डो मे हमने ह्यूम के दर्शन के प्रमुख पक्षो का जो सक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया है उससे पाश्चात्य दर्शन के इतिहास मे उनके क्रातिकारी विचारो के महत्त्व और व्यापक प्रभाव को भलीभाति समझा जा सकता है। हम देख चुके हैं कि उन्होने अपनी दार्शनिक कृतियो मे ज्ञानमीमासा, नीतिशास्त्र, धर्मदर्शन तथा राजनीति-दर्शन से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण समस्याओ पर गम्भीर और मौलिक चिंतन किया है। इन समस्याओ के सम्बन्ध मे ह्यूम के विचार इतने परम्पराविरोधी तथा क्रातिकारी थे कि उनके समय के अधिकतर दार्शनिको के लिए इन विचारो को स्वीकार करना लगभग असम्भव हो गया। यही कारण है कि ह्यूम के जीवन-काल मे उनके दर्शन को उचित मान्यता प्राप्त नही हो सकी। उनके अपने देश इग्लैंड के तत्कालीन अधिकतर विचारक उनके परम्पराविरोधी दार्शनिक सिद्धान्तो के प्रति या तो उदासीन रहे अथवा उन्होने इन सिद्धान्तो का तीव्र विरोध किया। इस उदासीनता और विरोध के फलस्वरूप दर्शन के क्षेत्र मे ह्यूम को अपने जीवन-काल मे वह उच्च स्थान तथा सम्मान प्राप्त नही हो सका जिसके वे अधिकारी थे। परन्तु समय व्यतीत होने के साथ-साथ यूरोप मे—विशेषत फ्रास और जर्मनी मे—उनके दर्शन का महत्त्व बढने लगा। फ्रास तथा जर्मनी के दार्शनिको ने गम्भीरता-पूर्वक उनकी रचनाओ का अध्ययन आरम्भ किया और वे उनके विचारो से बहुत प्रभावित हुए। इस सम्बन्ध मे जर्मन दार्शनिक कान्ट का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके दार्शनिक सिद्धान्तो पर ह्यूम के अनुभववादी दर्शन का गहरा प्रभाव पडा है। स्वय कान्ट ने यह स्वीकार किया है कि ह्यूम ने उनकी रूढिवादी निद्रा को भग करके उनके दर्शन को एक नयी दिशा दी। सम्भवत ह्यूम के अनुभववादी दर्शन से प्रभावित होने के कारण ही उन्होने अपनी पुस्तक 'क्रिटीक आफ प्योर रीजन' मे यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि केवल तर्कबुद्धि द्वारा सकल्प स्वातन्त्र्य, ईश्वर की सत्ता और आत्मा की अमरता को कभी प्रमाणित नही किया जा सकता। ये तीनो हमारी आस्था के विषय ही हो सकते हैं—अर्थात् हम केवल अपनी श्रद्धा या आस्था के आधार पर ही इन तीनो की वास्तविकता अथवा सत्यता मे विश्वास कर सकते है, अनुभव अथवा तर्कबुद्धि के आधार पर नही। कान्ट की यह मान्यता ह्यूम के अनुभववादी दर्शन के अनुरूप ही है, क्योकि, जैसा कि हम देख चुके हैं, स्वय ह्यूम ने मनुष्य के नैसर्गिक विश्वास—जो उनके विचार मे अबौद्धिक है—को बहुत महत्त्व दिया है और इसी के आधार पर भौतिक वस्तुओ के निरन्तर तथा स्वतन्त्र अस्तित्व की व्याख्या की है। ईश्वर की सत्ता, आत्मा की अमरता,

लगभग वही निष्कर्ष निकाला है जो हमे स्वीकार्य है ।"[122] इसी प्रकार परामर्शवाद के प्रवर्तक हेयर ने भी अपने सिद्धान्त पर ह्यूम के विचारो का प्रभाव स्पष्टत. स्वीकार किया है। वे तथ्यो से कर्त्तव्य के निगमन को तार्किक दृष्टि से असम्भव मानते हुये कहते हैं कि उनकी यह मान्यता 'ह्यूम के नियम' पर ही आधारित है जिसका वे दृढतापूर्वक समर्थन करते हैं ।[123] परामर्शवाद के एक अन्य समर्थक नावलस्मिथ ने भी इस सम्बन्ध मे ह्यूम के मत को पूर्णत स्वीकार किया है ।[124] इन सब उदाहरणो से समकालीन नैतिक दर्शन पर ह्यूम के नैतिकता सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रभाव भलीभाति स्पष्ट हो जाता है । दो शताब्दियो के पश्चात भी वर्तमान नैतिक दर्शन पर ह्यूम के विचारो का यह व्यापक प्रभाव निश्चय ही उनके नैतिक दर्शन की उपादेयता एव महत्ता का द्योतक है । निष्कर्ष के रूप मे यह कहा जा सकता है कि समकालीन दर्शन की सभी प्रमुख विधाओ पर ह्यूम के दर्शन का बहुत प्रभाव पडा है, अत ऐतिहासिक दृष्टि से ही नही, अपितु आधुनिक दर्शन को एक नवीन दिशा प्रदान करने की दृष्टि से भी उनके दर्शन का महत्त्व असदिग्ध है । यही कारण है कि आज दो शताब्दियो के पश्चात् भी उनके दर्शन के विभिन्न पक्षो के सम्बन्ध मे बहुत व्यापक विचार-विमर्श हो रहा है ।

□ □ □

(122) सी. एल स्टीवेन्सन, 'ऐथिक्स ऐंड लैंग्वेज', पृ० 273 ।
(123) आर ऐम हेयर, फ्रीडम ऐंड रीजन', पृ० 108, 186 ।
(124) पी एच. नावलस्मिथ, 'ऐथिक्स', पृ० 37 ।

लगभग वही निष्कर्ष निकाला है जो हमे स्वीकार्य है।"[122] इसी प्रकार परामर्शवाद के प्रवर्तक हेयर ने भी अपने सिद्धान्त पर ह्यूम के विचारो का प्रभाव स्पष्टत स्वीकार किया है। वे तथ्यो से कर्त्तव्य के निगमन को तार्किक दृष्टि से असम्भव मानते हुये कहते हैं कि उनकी यह मान्यता 'ह्यूम के नियम' पर ही आधारित है जिसका वे दृढतापूर्वक समर्थन करते हैं।[123] परामर्शवाद के एक अन्य समर्थक नावलस्मिथ ने भी इस सम्बन्ध मे ह्यूम के मत को पूर्णत स्वीकार किया है।[124] इन सब उदाहरणो से समकालीन नैतिक दर्शन पर ह्यूम के नैतिकता सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रभाव भलीभाति स्पष्ट हो जाता है। दो शताब्दियो के पश्चात भी वर्तमान नैतिक दर्शन पर ह्यूम के विचारो का यह व्यापक प्रभाव निश्चय ही उनके नैतिक दर्शन की उपादेयता एव महत्ता का द्योतक है। निष्कर्ष के रूप मे यह कहा जा सकता है कि समकालीन दर्शन की सभी प्रमुख विधाओ पर ह्यूम के दर्शन का बहुत प्रभाव पडा है, अत ऐतिहासिक दृष्टि से ही नही, अपितु आधुनिक दर्शन को एक नवीन दिशा प्रदान करने की दृष्टि से भी उनके दर्शन का महत्त्व असदिग्ध है। यही कारण है कि आज दो शताब्दियो के पश्चात् भी उनके दर्शन के विभिन्न पक्षो के सम्बन्ध मे बहुत व्यापक विचार-विमर्श हो रहा है।

□□□

(122) सी. एल स्टीवेन्सन, 'ऐथिक्स ऐंड लैंग्वेज', पृ० 273।
(123) आर ऐम हेयर, फ्रीडम ऐंड रीजन', पृ० 108, 186।
(124) पी एच. नावलस्मिथ, 'ऐथिक्स', पृ० 37।

पारिभाषिक हिन्दी शब्दो के अंग्रेजी पर्याय

अन्तर्निरीक्षण	Introspection
अनिवार्यता	Necessity
अनुचिन्तन	Reflection
अनुपात	Proportion
प्रागनुभविक	Apriori
अनुमोदन	Approval
अनुवर्ती	Consequent
अननुमोदन	Disapproval
अनन्यता	Identity
अपरिवर्तनीय	Invariable
अभिप्रेरणा	Motive
अभेद	Identity
अमूर्त	Abstract
असत्	Nothing
अज्ञेयवाद	Agnosticism
आकारिक	Formal
आत्मगत	Subjective
आशंका	Fear
ईर्ष्या	Envy
उपादान	Material
कारणमूलक	Causal
कबीला	Tribe
गर्व	Pride
चमत्कार	Miracle
जटिल	Complex
तादात्म्य	Identity
तीव्र (उत्तेजनापूर्ण)	Violent
मात्रा	Degree
तर्कोचित, तार्किक	Logical
तर्कना	Reasoning
तर्कबुद्धि	Reason
द्रोह	Malice
द्रव्य	Substance